परिमल संस्कृत सीरीज सं. 126

श्रीमन्महोपाध्यायभर्तृहरिकृतं

# वाक्यपदीयम्

## (तत्रत्यं ब्रह्मकाण्डाख्यं प्रथमं काण्डम्)

'हिन्दीव्याख्योपेतम्'

व्याख्याकार:

डॉ० जयदत्त उप्रेती

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

# प्राक्कथनम्

व्याकरणशास्त्र के प्रवचनकर्त्ता महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी एक विश्वविदित ग्रन्थ है, जो चार हजार के लगभग व्याकरणसूत्रों में ग्रथित है। उसके साथ ही साथ उनका धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्रपाठ और लिङ्गानुशासनसूत्र भी प्रसिद्ध है जो अष्टाध्यायी के अङ्ग और पूरक हैं। यह सब ग्रन्थ समुदित रूप से पंचपाठी नाम से भी जाने जाते हैं। महर्षि पाणिनि के पश्चात् अष्टाध्यायी के वार्तिककार महामुनि कात्यायन और भाष्यकार महामुनि पतञ्जलि पाणिनीय व्याकरण के उच्चकोटिक प्रामाणिक विद्वान् हुए हैं, जिनके कारण आज यह व्याकरण शास्त्र 'त्रिमुनि व्याकरणम्' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी विद्वत्-परम्परा में आगे चलकर महान् वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि हुए, जिन्होंने 'वाक्यपदीय' नामक एक उच्चकोटिक व्याकरणदर्शन के ग्रन्थ की रचना की। उसमें लगभग दो हजार श्लोकों में वैयाकरण सिद्धान्तों का गम्भीर विवेचन किया गया है। इस महान् ग्रन्थ को श्री भर्तृहरि (जिनको उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने संक्षेप से हरि नाम से सम्बोधित किया है) ने तीन काण्डों में विभक्त किया है। इनमें प्रथम काण्ड 'आगमकाण्ड' अथवा 'ब्रह्मकाण्ड' कहलाता है। इसमें शब्द की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का विवेचन है। साथ ही स्फोट और ध्वनिरूप में शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व, आदि की मीमांसा प्रस्तुत की गई है। उत्तरवर्ती काण्डों में द्वितीय काण्ड में वाक्य, वाक्य के स्वरूपादि पर विचार किया गया है, तथा तृतीय काण्ड में पद और उसके स्वरूपादि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। ग्रन्थ का तीन चौथाई से भी अधिक भाग इसी विवेचन पर केन्द्रित होने से यह सारा ग्रन्थ वाक्यपदीय कहलाता है। वाक्यं च पदं च वाक्यपदम्, वाक्यपदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः वाक्यपदीयम्। (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे, शिशुक्रन्दयमसभ-द्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः, अष्टाध्यायी, ४-३-८७, ८८ इति छप्रत्ययः)

प्रकृत ग्रन्थ केवल ब्रह्मकाण्ड या आगमकाण्ड की हिन्दी व्याख्या तक ही सीमित है। अतः उसी के सम्बन्ध में आगे की पंक्तियों में, संक्षेप से, कुछ चर्चा की जा रही है।

## वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड की कारिका संख्या में भेद-

वाक्यपदीय के प्रथम ब्रह्मकाण्ड की कारिका संख्यायें विभिन्न स्थानों से छपे संस्करणों में भिन्न-भिन्न हैं। यथा, १९६५ ई० में भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट,

पूना से छपे संस्करण में १५६ कारिकायें, संवत् १९८३ वि० में वृन्दावन से छपे संस्करण में १५६, १९८८ ई० में वाराणसी से अम्बाकर्त्री संस्कृतटीकोपेत संस्करण में १५५ तथा १९९२ ई० में ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से छपे संस्करण में १८३ है। इनमें १-२ कारिकायें किन्हीं में छूटी और किन्हीं में व्याख्यात होने से प्रकृत ग्रन्थ में १५७ कारिकाओं की व्याख्या की गई है।

### वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्डादि की संस्कृत टीकायें–

वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड पर श्री भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका पूर्णतः और द्वितीय काण्ड पर अंशतः अपूर्ण प्राप्त होती है। द्वितीय काण्ड पर श्री पुण्यराज की टीका और तृतीय काण्ड पर हेलाराज की टीकायें मिलती हैं। इसी प्रकार पं० द्रव्येश झा प्रणीत प्रत्येकार्थ प्रकाशिका टीका तथा पं० रघुनाथशर्माप्रणीत अम्बाकर्त्री टीकायें संस्कृत में उलब्ध होती हैं। ये अन्तिम दो टीकायें ब्रह्मकाण्ड पर विद्यमान हैं। लेखक ने इन टीकाओं से गूढार्थ युक्त कारिकाओं का तात्पर्य समझने में साभार सहायता ली है। अतः वह इन वैयाकरण विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है।

### ब्रह्मकाण्ड में प्रतिपादित प्रमुख विषय और सिद्धान्त–

१. शब्दब्रह्म अथवा शब्दतत्त्व की नित्यता का प्रतिपादन (कारिका १, २)— पदार्थों की उत्पत्ति-स्थिति-विनाश में ब्रह्म की कालशक्ति का हेतुत्व, ब्रह्म का प्राप्तिकारण और अनुरूप वेद है, जिसकी व्याख्या महर्षियों ने अनेक शाखाओं में की है। (वही, ३,५,७)

२. उसी वेद के आधार पर दृष्ट-अदृष्ट प्रयोजन वाली विविध स्मृतियों को वेदविद् विद्वानों के द्वारा प्रकल्पित किया गया है। उसी के अर्थवाद रूप में उन्होंने अपने-अपने विकल्पों के अनुसार अद्वैतवाद, द्वैतवादादि वादों का विस्तार किया हुआ है। (वही, ७, ८)

३. इन सब में एकपदा विद्या प्रणव ही सत्य और पवित्र है, जिसमें किसी भी वाद का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि समस्त वाग्-विस्तार प्रणव (ओम्) मूलक है, और ओम्पदवाच्य ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण है। (वही, ९)

४. उस ब्रह्म का निकटतम साधक, तपों में श्रेष्ठतप और वेदों का प्रथम अंग विद्वानों ने व्याकरण को बतलाया है, जो कि देववाणी अथवा वेदवाणी के वर्ण, पद, वाक्यरूप में भेदों का दर्शाता है और अतिश्रेष्ठ आनन्द के स्रोत को प्राप्त करने

का सरल मार्ग और पद-पदार्थों का प्रकाशक है (का० ११,१२)

५. व्याकरण शास्त्र की महिमा का वर्णन १३वीं से २२वीं कारिकापर्यन्त किया गया है। यथा, पदार्थों का तात्विक बोध और पारस्परिक व्यवहार का ज्ञान शब्दों के बिना नहीं हो सकता और शब्द-शब्दार्थ का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं होता, इसलिए व्याकरण जानना आवश्यक है, जो वाणी के दोषों को दूर करने के लिए औषधि है, सारी विद्याओं में श्रेष्ठ है। व्याकरण ही सिद्धिप्रापक सीढ़ियों में प्रथम श्रेणी है, और मुमुक्षों का सरल राजपथ है, पद-पदार्थ-ज्ञान के लिए सर्वोत्तम प्रकाश है, ऋग्-यजुः-साम-अथर्व नामक चारों वेदों के ज्ञान के साथ-साथ विशाल शब्दराशि के ज्ञान का एकमात्र आधार है, प्रक्रियाओं के भेद से विभक्त इस व्याकरण का तात्त्विक ज्ञान ही परब्रह्म की प्राप्ति का हेतु है।

६. सूत्रों, वार्तिकों और भाष्यों के रचयिता महर्षियों ने शब्द के अर्थ और शब्दार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य प्रतिपादित किया है। (का० २३)

७. वेदादि शास्त्रों के आधार पर जिन शब्दों को प्राचीन शिष्टों (विद्वान् ऋषियों) ने साधु अर्थात् शुद्ध शब्द समझा है, उनमें ही धर्मजनकता होती है और वे ही धर्म कार्यों में प्रयोग के उचित साधन माने जाते हैं। (का० २७)

८. जिस प्रकार जन्म-मरण होते रहते भी प्राणियों का सद्भाव पृथिवी में बना रहता है और उनका सर्वथा विनाश नहीं होता, उसी प्रकार नित्य और अनित्य शब्दों में व्यवस्था से नित्यता मानी जाती है। (का० २८)

९. आगम के बिना कोई धर्म केवल तर्क के आधार पर नहीं टिक सकता। ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्व ही हुआ करता है। (का०, ३०)

१०. कुशल तार्किकों के द्वारा यत्नपूर्वक अनुमित अर्थ भी उनसे अधिक कुशल तार्किकों के द्वारा निरस्त किया जाता है। इसलिए केवल तर्क कार्यकर नहीं होता। (का० ३४)

११. योगी, विद्वान् और सिद्धपुरुष इन्द्रियातीत और असंवेद्य विषयों को भी अपनी सूक्ष्म आर्षदृष्टि से देख और जान लिया करते हैं। ऐसे ज्ञानियों के वचनों को कोई अनुमान या तर्क के बल से खण्डित नहीं कर सकता। (का० ३७-३८)

१२. ऋग्वेदादि चारों वेद अकृतक अर्थात् मनुष्यनिर्मित न होकर अपौरुषेय ईश्वरदत्त (आदि ऋषियों के अन्तरात्मा में ईश्वर द्वारा प्रकाशित) हैं, उन्हीं वेदों के आधार पर व्याकरण-स्मृति बनी है, जिसको प्राचीन वैयाकरण ऋषियों की

परम्परा में महर्षि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ने शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण शास्त्र की रचना की है। (का०, ४३)

१३. गौः इत्यादि शब्द के उच्चारण में नाद या ध्वनि का क्रमशः जन्म होता है, किन्तु उच्चारण के पूर्व और उच्चारण के पश्चात् वह नाद नहीं रहता तथापि अर्थ का ज्ञान वक्ता तथा श्रोता के मन में सर्वथा क्रमरहित एकरूप जो रहता है, वही अखण्ड नित्य स्फोट कहलाता है। (का० ४८)

१४. जिस प्रकार अग्नि, सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों प्रकार की शक्ति होती है, वे अपने स्वरूप के प्रकाशक भी होते हैं और अपने प्रकाश के द्वारा अन्य वस्तुओं के भी प्रकाशक होते हैं, उसी प्रकार समस्त शब्दों में भी अपने स्वरूपों के साथ-साथ अपने-अपने अर्थों को भी प्रकाशित करने की दो प्रकार की शक्तियाँ हुआ करती हैं। (का० ५५)

१५. शब्द अपने-अपने विषय में ही अर्थों के प्रकाशक होते हैं। सत्तामात्र से वे किसी भी अर्थ को प्रकाशित नहीं करते। (का० ५६)

१६. व्याकरण में मुख्यतः शब्द के स्वरूप पर ही विचार होता है, अर्थ पर नहीं। अर्थ का तो वहाँ विशेष प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा ही ग्रहण हुआ करता है, जो कि व्याकरण-प्रक्रिया को जानने के लिए की गई होती हैं, जैसे कि आ, ऐ, औ वर्णों के ग्रहणार्थ वृद्धि संज्ञा, अएओ वर्णों के ग्रहणार्थ गुण संज्ञा 'वृद्धिरादैच्', 'अदेङ् गुणः' सूत्रों द्वारा की हुई हैं। इसी प्रकार ''टि'', 'घु', 'भ' इत्यादि संज्ञाओं के भी अपने-अपने अर्थ हैं। (का० ५९,६०)

१७. किसी भी वर्ण के अनेक पदों में अनेक बार आवृत्ति होने से उस वर्ण का एकत्व नष्ट नहीं होता। उसी प्रकार अनेक वाक्यों में किसी पद का प्रयोग होने पर भी उस पद का एकत्व नष्ट नहीं होता। वर्ण या वर्णों के समुदाय से भिन्न कोई पद नहीं होता, और पद या पदसमुदाय से भिन्न कोई वाक्य नहीं होता। यह तो सामान्य बात है। परन्तु वाक्य में पद नहीं, पद में वर्ण नहीं, वर्ण में अवयव नहीं, यह भी एक दृष्टि है, जो अखण्डवाक्यस्फोट पक्ष के अनुसार वैयाकरणों में बहुमान्य है। (का० ७१, ७२, ७३)

१८. शब्दों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत के उच्चारण में जो कालभेद होता है, वह प्राकृत ध्वनियों के उच्चावच तारतम्य के कारण होता है, जबकि स्फोटात्मा सदा एकरूप ही रहता है और उसमें कालभेद नहीं होता। ध्वनि में भेदों के कारण श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का ही संस्कार होता है। स्फोट जहाँ अखण्डात्मक नित्य शब्द

है, वहाँ ध्वनि उस शब्द को अन्य तक पहुँचाने का माध्यम है। (का० ७५,७६, ७७, ७८)

१९. यद्यपि ''एकैकवर्णवर्तिनी वाक्'' इस नियम से शब्द के उच्चारणकाल में प्रतिवर्ण ध्वनि की उत्पत्ति और ह्रास क्रमशः हुआ करते हैं, तथापि बुद्धि में पूर्वोच्चारित वर्ण का अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ एक संस्कार बने रहने से शब्द का निर्धारण अर्थात् निश्चय हो जाया करता है। (का० ८५)

२०. शब्द की उत्पत्ति में हेतु वायु अथवा अणु अथवा ज्ञान को माना जाता है। इन हेतुओं का प्रतिपादन विभिन्न दर्शनों में किया गया है। (का० १०८)

२१. मनुष्य की आत्मा में परा, पश्यन्ती, मध्यमा रूप में जो ज्ञान अन्तर्निहित रहता है, वही अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए शब्दरूप में, अथवा वैखरी वाग् के रूप में परिणत हुआ करता है। (का० ११३)

२२. यह विश्व शब्द का ही परिणाम है, ऐसा आम्नायविद् अर्थात् वेदविद् विद्वानों का कथन है, क्योंकि वेदों से ही इस विश्व की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई है। (का० १२)

२३. इसलिए जो यह व्याकरणशास्त्र के द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति तथा साधुत्वबोधक संस्कार है, वह परमात्मा की सिद्धि है। इसलिए शब्दों की प्रवृत्ति के तत्त्व को जानने वाला आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। (का० १३३)

२४. यह व्याकरण शास्त्र शब्दों के साधुत्व का ज्ञान कराने वाला शास्त्र है, जिसे व्याकरण-स्मृति भी कहा जाता है। उसके आधार पर निरन्तर शुद्ध संस्कृत शब्दों की जानकारी सदा से होती आयी है। (का, १४३) संस्कृतेतर भाषाओं के अपभ्रंश शब्द अनुमान द्वारा साधु शब्दों के बोधक होते हैं, अथवा अतिप्रसिद्धि के कारण सीधे अर्थों के बोधक हुआ करते हैं। (का० १५१, १५४)

यह संक्षेप से वाक्यपदीय के आदिम आगम काण्ड (ब्रह्मकाण्ड) के प्रमुख वर्ण्य विषयों का विवरण है। वस्तुतः पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य में पस्पशाह्निक से लेकर अष्टम अध्याय के अन्तिम आह्निक तक व्याकरण-सिद्धान्तों का जहाँ जहाँ भी महर्षि पतञ्जलि द्वारा उल्लेख किया गया है, उन सबको आचार्य भर्तृहरि ने समूचे ग्रन्थ में समाविष्ट किया है, उनमें के कतिपय का संग्रह इस काण्ड में भी किया गया है, जो कि दर्शन एवं भाषाविज्ञान दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवम् उपयोगी हैं। संस्कृत दैवी वाक् होने से उसका एक एक शब्द दिव्य गुणों से युक्त है। जिस कारण ऋषियों की यह भणिति सुप्रसिद्ध है—

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।"

कौन नहीं जानता कि भारत का अधिकांश प्राचीन वाङ्मय संस्कृत भाषा में ही निबद्ध है। क्या वेदोत्तरवर्ती आर्ष साहित्य और क्या अनन्तरवर्ती लौकिक साहित्य सभी तो संस्कृत में उपलब्ध होता है। उनमें स्मृतिकार, सूत्रकार, दर्शनकार, रामायण, महाभारत और पुराणों के रचनाकार, भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, बाणभट्ट प्रभृति प्राचीन महाकवि और नाटककार तथा अनेक अर्वाचीन काव्यकार आज भी इस भाषा के गौरव का गुणगान करा रहे हैं। इनमें व्याकरण जैसे लक्षणग्रन्थों का सर्वोपरि सम्मान्य स्थान है। उसी कड़ी में महावैयाकरण भर्तृहरि का स्थान भी किसी से कम आदरास्पद नहीं है, जिन्होंने व्याकरणदर्शन पर वाक्यपदीय जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

हिन्दीव्याख्योपेत इस वाक्यपदीयगत ब्रह्मकाण्ड के प्रकाशन का भार दिल्लीस्थ श्री परिमल पब्लिकेशन्स द्वारा अपने ऊपर लेकर इस लेखक को तो अनुगृहीत किया ही है, साथ ही अध्येता उन छात्रों को भी उपकृत किया है, जिन्हें व्याकरणाचार्य और एम०ए० (संस्कृत) की उच्च श्रेणियों में विविध विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित होने के कारण उक्त ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है। आशा है यह व्याख्या ग्रन्थकार के मन्तव्य को हृदयङ्गम करने में अध्येता छात्रों को सुगम प्रतीत होगी और इससे वे लाभान्वित होंगे, तभी लेखक भी अपना प्रयास सफल समझेगा। अतः एतदर्थ मैं प्रकाशक महोदय के प्रति साभार कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इसके अतिरिक्त में अनुगृहीत हूँ डॉ० रामप्रकाश वर्णी जी (एसोशियेट प्रोफेसर, एल०आर० कालेज, जसराना, फिरोजाबाद, उत्तर प्रदेश) का, जिनकी प्रेरणा और सौजन्य से लेखक की यह कृति प्रकाश में आ रही है। पुस्तक का आमुख "किञ्चिन्मनोगतम्" लिखने के लिये भी मैं उनका कृतज्ञतापूर्वक भूरिशः धन्यवाद करता हूँ। इति शुभम्।

दिनाँक : 04/04/2013 **डॉ० जयदत्त उप्रेती**

अल्मोड़ा

ओ३म्

## श्रीसच्चिदानन्दाय ब्रह्मणे नमो नमः

# श्रीमन्महोपाध्यायभर्तृहरिकृतं वाक्यपदीयम्

## (तत्रत्यं ब्रह्मकाण्डाख्यं प्रथमं काण्डम्)

वाक्यपदीय के आदिम ब्रह्मकाण्ड में सर्वप्रथम शब्दतत्त्व की नित्यता को दर्शाते हुए उससे ही नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति (जो कि ग्रन्थकार के मत में विवर्त रूप है) मानी गई है। प्रथम श्लोक में कहा गया है-

**अनादिनिधानं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।**
**विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।1।।**

अन्वयः- यद् अनादिनिधनम् अक्षरम् ब्रह्म (तदित्यध्याहारः) शब्दतत्त्वम्। यतः जगतः प्रक्रिया अर्थभावेन विवर्तते।।

व्याख्या- (यद्) जो (अनादिनिधनम्) उत्पत्ति और विनाश से रहित (अक्षरम्) कभी न क्षीण न होने वाला अविनाशी (ब्रह्म) परमेश्वर अथवा वेद है, वही (शब्दतत्त्वम्) शब्द और अर्थ का मूल शब्दब्रह्म कहलाता है। (यतः) जिससे (जगतः) चराचर स्थावर-जंगम रूप इस जगत् की (प्रक्रिया) प्रकृष्ट कार्यप्रणाली अर्थात् समस्त प्राण्यप्राणि जगत् का व्यवहार (अर्थभावेन) पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आदि नाना भेद-प्रभेदों के रूप में (विवर्तते) विशेष रूप से हुआ करता है। आचार्य भर्तृहरि के प्रकृत पद्य का मूल महर्षि वेदव्यास का महाभारतोक्त वह श्लोक प्रतीत होता है, जिसमें अनादिनिधन, शाश्वत, पारमेश्वरी दिव्य वेदवाणी को ही समस्त जागतिक प्रवृत्तियों का आदिमूल बतलाया गया है। यथा,

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

(महाभारत 12-233-24)

तात्पर्य यह है कि प्राचीन शाब्दिक आचार्यों ने वाणी के विकास क्रम को चार भागों में बाँटा है। वे हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। इनमें अतिसूक्ष्म अविनाशी वाक् शक्ति ही परा वाक् है, वही ब्रह्मापर पर्याय शब्दतत्त्व है। वही एकाक्षर ब्रह्म ओम् है। उसी की उपासना करने का और साक्षात्कार करने का वेदादिशास्त्रों में प्रतिपादन है। और उसी का सम्यक् ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का हेतु है। उसी का अवर सूक्ष्म रूप 'पश्यन्ती वाक्' है, जिसे कुछ लोग ज्ञानशक्ति भी कहा करते हैं। उससे कुछ स्थूल रूप 'मध्यमा वाक्' है, जिसे इच्छाशक्ति भी कहते हैं। और व्यक्त वाणी, जो अकारादि, ककारादि स्वर-व्यंजन नामक वर्णों से उच्चरित और श्रुतिगम्य होती है, 'वैखरी वाक्' कहलाती है। इस प्रकार 'परा वाक्' ही अन्ततः पुरुष के प्राणादि परिस्पन्दन द्वारा स्थूल क्रियाशक्ति को जन्म देती है। इसी प्रक्रिया को वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने विवर्त नाम से वर्णित किया है।

इस विवर्तवाद के प्रतिपादक मूलतः आदि शंकराचार्य माने जाते हैं, जिनके अनुसार 'अतत्वतोऽन्यथाभावः विवर्तः'- अवास्तविक वस्तु का वास्तविक जैसा प्रतीत होना विवर्त का लक्षण है। जैसे रस्सी का विवर्त सर्प है और सीपी का विवर्त चाँदी है। मन्द प्रकाश में कोई सामने पड़ी रस्सी को साँप समझ कर भयभीत हो जाता है, और स्पष्ट प्रकाश होने पर रस्सी में उपजा साँप का भ्रम नष्ट होकर 'यह तो रस्सी है, न कि सर्प' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार सीपी में चाँदी का भ्रम भी स्वच्छ प्रकाश में मिट कर सीपी ही होने का निश्चित ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञान; माया का आवरण; नष्ट होने पर ब्रह्म जो शाश्वत तत्त्व है, उसका निश्चयात्मक ज्ञान पुरुष को हो जाता है।।1।।

यदि शब्दब्रह्म एक ही है, तो उससे नाना प्रकार के नाम-रूप भेद कैसे होते है? इस प्रशन का समाधान करते हैं-

**एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।**
**अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते।।2।।**

अन्वयः- यद् एकम् एव आम्नातम् (तद्) शक्तिव्यपाश्रयात् भिन्नम्। अपृथक्त्वे अपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेन इव वर्तते।।

व्याख्या:- (यद्) जो (एकम् एव) एक ही अद्वितीय (आम्नातम्) तत्त्व कहा गया है, वह (शक्तिव्यपाश्रयात्) अनेक शक्तियों के आश्रय से (भिन्नम्) भेदयुक्त भी है। (अपृथक्त्वे अपि) भेदरहित होने पर भी (शक्तिभ्य:) अपनी शक्तियों से (पृथक्त्वेन इव) भिन्न या पृथक् जैसा (वर्तते) रहा करता है।

आशय यह है कि जिस प्रकार एक मिट्टी को लेकर उससे घड़ा, प्याली, आदि अनेक प्रकार की वस्तुयें बनाई जाकर पृथक्-पृथक् अनेक वस्तुओं का व्यवहार होने लगता है, किन्तु मूलतः यह सब मिट्टी ही हुआ करती है, उसी प्रकार शब्दतत्त्व या परब्रह्म एक अद्वितीय है, तथापि उसमें निहित अनेक प्रकार की शक्तियों के कारण बहुत से शक्तिभेद एवम् अर्थभेद हुआ करते हैं, जिनसे संसार का व्यवहार चला करता है।।2।।

ब्रह्म की किन शक्तियों से जन्मादि षड् विकार उत्पन्न होते हैं, उसको बतलाते हैं-

**अव्याहताः कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।**
**जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः।।3।।**

अन्वय:- यस्य अव्याहताः कलाः कालशक्तिम् उपाश्रिताः (तस्य) जन्मादयः षड् विकाराः भावभेदस्य योनयः (भवन्तीति शेषः)।

व्याख्या:- (यस्य) जिस ब्रह्म की (अव्याहताः कलाः) अविनाशी शक्तियाँ या भेद (कालशक्तिम्) समय की शक्ति को (उपाश्रिताः) प्राप्त हुईं, उसी से (जन्मादयः) पैदा होना, अस्तित्व में आना, बढ़ना, परिवर्तन होना, अपक्षय होना ये (षट् विकाराः) उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के रूपान्तर (भावभेदस्य) पदार्थों के भेद-प्रभेदों के (योनयः) कारण हुआ करते हैं।

संसार में उत्पन्न होने वाली जड-चेतनमय वस्तुओं, विशेषतः प्राणियों के शरीरों में तथा वृक्ष-वनस्पतियों में, समय के अनुसार विकास, वृद्धि, क्षय, विनाश होते रहते हैं यह सर्वविदित है। इस उत्पत्ति, वृद्धि, अपक्षय की प्रक्रिया को ग्रन्थकार ब्रह्म की काल नामक शक्ति के अधीन मानते

हैं। यद्यपि ब्रह्मवत् उसकी कालशक्ति भी व्यापक है, तथापि पदार्थों के भेदों और उपभेदों की बहुलता से तथा उनकी उत्पत्यादि क्रियाओं में भी कारणवशात् अन्तर होने से अमुक अमुक वस्तु पहले, अमुक पीछे इत्यादि रूप से पौर्वापर्यक्रम हुआ करता है।।3।।

ये कालादि शक्तियों और पदार्थों के नानाभेद ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न? इसको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार का कहना है-

**एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।**
**भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः।।4।।**

अन्वय:- सर्वबीजस्य एकस्य यस्य इयम् भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च अनेकधा स्थितिः (अस्ति इति शेषः)।।

व्याख्या- (च) और (सर्वबीजस्य)। जो सबका एकमात्र बीज कारण है, उस (एकस्य) एक का यह सब पसारा है। (यस्य) जिसकी कि (इयम्) यह (भोक्तृभोक्तव्यरूपेण) मन, इन्द्रियशरीरयुक्त भोग करने वाले मनुष्यादि प्राणियों के तथा भोग करने योग्य अन्नादि पदार्थों के रूप में (च) और (भोगरूपेण) भोग के रूप में अर्थात् खाना, पीना, सोना, जागना आदि भोगोपभोग सम्बन्धी क्रियाओं के रूप में (अनेकधा) अनेक प्रकार की (स्थितिः) अवस्था है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्म से तात्पर्य शब्दब्रह्म से तथा भोक्तृ, भोक्तव्य, भोग से विवर्तवाद की दृष्टि में ब्रह्म की शक्ति माया से है। यदि सांख्यशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो समस्त विकारों का मूल कारण प्रकृति है जो जीवात्मा तथा परमात्मा के समान ही नित्य सत्ता है, किन्तु अचेतन है। तदनुसार मन, बुद्धि, शरीरयुक्त जीव (पुरुष) भोक्ता है, समस्त दृश्य वस्तुयें भोक्तव्य और भोग्य है और भोक्ता तथा भोक्तव्य के मध्य का समस्त व्यापार भोग है।।4।।

इस ब्रह्म की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से होती है, जो कि वेदादिशास्त्रों से सुलभ होता है, इसको बतलाते हैं-

**प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।**
**एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक्।।5।।**

अन्वयः- तस्य प्राप्त्युपायः च अनुकारः एकः अपि वेदः महर्षिभिः अनेकवर्त्मा इव पृथक् पृथक् समाम्नातः।।

व्याख्या- (तस्य) उस ब्रह्म की (प्राप्त्युपायः) प्राप्ति का उपाय (च) और (अनुकारः) अनुकरण अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप, उसकी महिमा, उसके द्वारा रचे गये जगत् और प्राणियों, विशेषतः मनुष्यों के कल्याणहेतु कर्तव्याकर्तव्य कर्मों तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का उपदेश करने वाले (वेदः) वेदचतुष्टय को, जो कि (एकः) वेदत्वेन एक होते हुए भी अपौरूषेय है, (महर्षिभिः) अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा नामक आदि ऋषियों से लेकर महर्षि बादरायण, व्यास और उनके याज्ञवल्क्यादि शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद को (पृथक् पृथक्) अनेक शाखाओं के रूप में (अनेकवर्त्मा इव) अनेक मार्गों के समान (समाम्नातः) प्रवचन किया गया। जैसे कि ऋग्वेद की शाकल, बाष्कल आदि नामों से, यजुर्वेद की शुक्ल और कृष्णभेद से वाजसनेयि, माध्यन्दिन, काण्व, तैत्तिरीय, मेत्रायणी आदि नामों से, सामवेद की कौथुम, राणायनीय, जैमिनीय आदि नामों से तथा अथर्ववेद की शौनक, पैप्पलाद आदि नामों से कतिपय शाखायें वेदपाठी ब्राह्मणों द्वारा कण्ठस्थ करने की कुलपरम्परा से आज तक सुरक्षित चली आयी हैं। अन्य अनेक शाखायें लुप्त हो चुकी हैं। पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के अनुसार किसी समय भारतवर्ष में वेदों की 1127 शाखायें उपलब्ध थीं। प्रवचन और व्याख्या द्वारा पाठों में भिन्नता होने से इन शाखा ग्रन्थों में वैविध्य होना स्वाभाविक था।।5।।

प्रश्न होता है कि प्रवचनादि भेदों से युक्त इन शाखाओं में वेद के सम्बन्ध में अविरोध या सामञ्जस्य कैसे बना रहा? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं।

**भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चांगता।**
**शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते।।6।।**

अन्वयः- भेदानाम् बहुमार्गत्वम् च एकत्र कर्मणि अंगता (भवतीति शेषः) तस्य शाखासु शब्दानाम् यतशक्तित्वम् दृश्यते।।

व्याख्या- (भेदानाम्) वेदों की शाखाओं के भेदों, जैसे कि ऋग्वेद की 21 शाखायें, यजुर्वेद की 101 शाखायें, सामवेद की एक हजार शाखायें और अथर्ववेद की 09 शाखायें बतलायी गई हैं, इनके परस्पर भिन्न होने से (बहुमार्गत्वम्) वेद तक पहुँचने के मार्ग भी बहुत हो गये (च) तथापि (एकत्र कर्मणि) एक प्रधान कर्म में वेद की विभिन्न शाखाओं के वचनों का साथ साथ समावेश होने से परस्पर एकरूपता और (अंगता) सांगता हो जाती है। साथ ही यह भी जानने योग्य है कि (शब्दानाम्) शाखाओं में प्रयुज्यमान शब्दों की (यतशक्तित्वम्) शक्ति भी नियत होती है, अनियत नहीं। जैसे कि 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा०,7-4-38) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार यजुर्वेद की काठक शाखा में देव, सुम्न शब्दों को क्यच् प्रत्यय परे होने पर आत्वादेश ही साधु है- 'देवायते यजमानाय' (काठकसंहिता, 2-9), सुम्नायन्तो हवामहे (का0सं08-17) और सिम शब्द को अथर्ववेद में अन्तोदात्त ही साधु माना गया है- 'सिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्तः' (फिट्सूत्र, 79) इत्यादि। इस प्रकार जिस शब्द का जैसा प्रयोग इन शाखाप्रवचनकार ऋषियों ने किया है, उसी में पुण्यजनकता मानी गई है, अन्य अपभ्रंशादि शब्दों में नहीं।।6।।

प्रश्न होता है कि शब्दार्थ की प्रतिपत्ति में क्या वेदों का ही प्रामाण्य अभीष्ट है अथवा अन्य भी शास्त्रग्रन्थ सहायक हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-

**स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।**
**तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः।।7।।**

अन्वयः- स्मृतयः च बहुरूपाः दृष्टादृष्टप्रयोजनाः, तम् एव (वेदम्) आश्रित्य वेदविद्भिः लिङ्गेभ्यः प्रकल्पिताः।।

व्याख्या- (स्मृतयः) मन्वादि स्मृतियाँ (च) तथा आयुर्वेदादि शास्त्र (बहुरूपाः) अनेक प्रकार के हैं, जो कि (दृष्टादृष्टप्रयोजनाः) प्रत्यक्ष प्रयोजन वाली तथा अप्रत्यक्ष प्रयोजन वाली हुआ करती हैं। इनमें प्रत्यक्ष प्रयोजन वाले आयुर्वेदादि शास्त्र है, जिनकी सहायता (चिकित्सा) से रोगी को तत्काल लाभ होता है और अप्रत्यक्ष प्रयोजन वाले आचार-विचार,

भक्ष्याभक्ष्यादि का निर्णय कराने वाले मनुस्मृत्यादि शास्त्र हैं तदनुसार मनुष्यों को पुण्य कर्मों का सुख रूप फल और पाप कर्मों का दुःख रूप फल कालान्तर में कर्मपरिपाकवशात् प्राप्त होता है। ये सभी शास्त्र अथवा स्मृतियाँ उसी वेदशास्त्र को (आश्रित्य) आधार मानकर (वेदविद्भिः) वेदज्ञ विद्वानों के द्वारा (लिंगेभ्यः) वेदविरुद्ध हेतुओं से, अथवा वेदों की भावना के अनुसार (प्रकल्पिताः) रचे गये हैं। सत्यवादी वेदज्ञ विद्वान् ऋषि-मुनियों के द्वारा रचित मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्र और आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत, आदि शास्त्रग्रन्थ भी वेदों के समान ही मान्य हैं, किन्तु परतः प्रमाण माने जाते हैं।।7।।

प्रश्न होता है कि वेदानुसार रचे गए इन स्मृत्यादि ग्रन्थों में भी कहीं कहीं जब मतभेद दिखाई देता है, तो इन्हें प्रमाण कैसे माना जाय? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं-

**तस्यार्थवादरूपाणि निश्चित्य स्वस्वविकल्पजाः।**
**एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः।।8।।**

अन्वयः- तस्य अर्थवादरूपाणि निश्चित्य एकत्विनाम् च द्वैतिनाम् स्वविकल्पजाः प्रवादाः बहुधा मताः।।

व्याख्या- (तस्य) उस वेदशास्त्र के (अर्थवादरूपाणि) अर्थवादात्मक वाक्यों का (निश्चित्य) निश्चय करके (एकत्विनाम्) अद्वैतवादियों शांकरमतानुयायियों वेदान्तविदों का (च) और (द्वैतिनाम्) जीव-ब्रह्म की पृथक् पृथक् नित्य सत्ता मानने वाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगादि शास्त्रों और द्वैतवादी माधवाचार्य के (स्वविकल्पजाः) अपने-अपने वैकल्पिक मतभेदों से उत्पन्न हुए (प्रवादाः) निश्चित सिद्धान्त (बहुधा) अनेक प्रकार के (मताः) माने गए हैं।

आशय यह है कि वेद के वचनों में अर्थवाद वाक्यों, जिनमें कि निन्दाप्रशंसात्मक कथनों में निन्द्य की निवृत्ति कराना और स्तुत्य की प्रवृत्ति कराना ही मुख्य प्रयोजन होता है, के आधार पर जीव ब्रह्म के एकत्व पर बल देने वाले अद्वैतवादी और इन दोनों के पृथक्भाव अर्थात् जीवात्माओं की सत्ता भी परमात्मा की सत्ता के समान नित्य शाश्वत है, इस सिद्धान्त

का प्रतिपादन करने वाले न्याय, आदि दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ वेदान्त दर्शन भी हैं। उन्हीं को लक्षित करके वाक्यपदीयकार ने एकत्ववाद और द्वैतवाद का उल्लेख प्रकृत कारिका में किया है।।8।।

इस द्वैताद्वैत प्रवादों में वास्तविक कौन सा है, इसे बतलाने के लिए आगामी कारिका है-

**सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।**
**युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी।।9।।**

अन्वयः- तत्र सर्ववादाविरोधिनी एकपदागमा विद्या एव सत्या विशुद्धिः प्रणवरूपेण युक्ता उक्ता।

व्याख्या- (तत्र) उनमें (सर्ववादाविरोधिनी) अद्वैतियों, द्वैतियों के सारे प्रवादों से भी जिसका विरोध नहीं है, वह (एकपदागमा) एक पद रूपी श्रुति की (विद्या एव) विद्या ही (सत्या) सत्य है और वही (विशुद्धिः) सब वाद-प्रवादों में शुद्ध रूप है। वही (प्रणवरूपेण) ओंकार के रूप में (युक्ता उक्ता) उचित कही और मानी जाती है। क्योंकि समस्त वाग्-विस्तार ओम् पदमूलक है, और ओम्पदवाच्य ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है।।9।।

प्रश्न है कि प्रणव ओम् तो एक ही है, वह सब वादों में सम्मिलित कैसे माना जा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं-

**विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धानाः।**
**विद्याभेदा प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः।।10।।**

अन्वयः- लोकानाम् विधातुः तस्य अङ्गोपाङ्गनिबन्धानाः ज्ञानसंस्कारहेतवः विद्याभेदाः प्रतायन्ते।।

व्याख्या- (लोकानाम्) समस्त लोकों के (विधातुः) रचयिता (तस्य) उस ओम् ब्रह्म के (साङ्गोपाङ्गनिबन्धानाः) अङ्गों और उपागों के प्रयोजन वाले (ज्ञानसंस्कारहेतवः) सम्यग् ज्ञान तथा सुन्दर संस्कारों को पैदा करने वाले (विद्याभेदाः) व्याकरणादि और मनुस्मृत्यादि अनेक विद्याओं के भेद-प्रभेदों की ऋषि-मुनियों के द्वारा (प्रतायन्ते) विस्तारपूर्वक रचना की जाती है। कहा भी गया है- 'सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः' (वाक्यपदीय की

कारिका 1-10 की हरिवृषभकृत स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत वचन)।

इस कारिका में लोकों का विधाता प्रणव (ओम्पदवाच्य ब्रह्म) को कहने का तात्पर्य है समस्त जगत् लोक-लोकान्तरों का रचयिता वह परमेश्वर है। इस बात को स्पष्ट रूप से यहाँ बतलाया गया है। इसके पूर्व पाँचवीं कारिका में वेदों का उद्‌भव भी उसी ब्रह्म से प्रतिपादित किया गया है, और ये दोनों बातें ब्रह्मसूत्र 'जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र०सू० 1-1-2,3) से मिलती जुलती हैं। उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार वेदों के 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः, सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च, तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।' इत्यादि मन्त्रों में ईश्वर को जगत् का तथा वेदों का रचयिता बतलाया गया था, उसी प्रकार वाक्यपदीय के कर्त्ता आचार्य भर्तृहरि ने भी उक्त दो श्लोकों में वेद-वेदान्तानुसार ही जगत् और वेदों के रचयिता ईश्वर को ही बतलाया है। यह अद्‌भुत साम्य ग्रन्थकार की वेदादि शास्त्रों के प्रति गहन निष्ठा और भक्ति का द्योतक है।।10।।

अब इनमें से वेदाङ्गों मे प्रथम एवं प्रधान अङ्ग व्याकरण शास्त्र की रचना के सम्बन्ध में कहते हैं-

**आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।**
**प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः।।11।।**

अन्वयः- बुधाः तस्य ब्रह्मणः आसन्नम् तपसाम् उत्तमम् तपः छन्दसाम् प्रथमम् अङ्गम् व्याकरणम् प्राहुः।।

व्याख्या- (बुधाः) विद्वान् वेदज्ञ महर्षियों ने (तस्य ब्रह्मणः) उस वेदरूप ब्रह्म के साक्षात् उपकारक होने के कारण (आसन्नम्) समीपतया साधक (तपसाम्) चान्द्रायणादि तथा स्वाध्यायादि तपों में भी (उत्तम् तपः) श्रेष्ठ तप अथवा ज्ञान को (छन्दसाम्) वेदों का (प्रथमम् अङ्गम्) पहला अंग (व्याकरणम्) व्याकरण शास्त्र को (प्राहुः) कहा है। जैसे कि व्याकरण-महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है- 'प्रधानं च षट्स्वंगेषु व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।' इस प्रकार स्पष्ट है- छहों वेदाङ्गों में व्याकरण का स्थान मुख्य है।।11।।

यद्यपि सभी वेदाङ्ग अपने अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं, उनमें किसी एक की प्रधानता का प्रश्न नहीं होना चाहिए, तब व्याकरण को प्रधान वेदाङ्ग किस प्रकार कहा गया है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए ग्रन्थकार का कहना है-

**प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।**
**यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥12॥**

अन्वयः- प्राप्तरूपविभागायाः वाचः यः परमो रसः यत् ज्योतिः तत् पुण्यतमं ज्योतिः तस्य अयम् आञ्जसः मार्गः॥

व्याख्या- (प्राप्तरूपविभागायाः) वर्ण, पद और वाक्य के भिन्न-भिन्न रूपों का विभाग करने वाली (वाचः) वाणी का (देववाणी अपरनाम वेदवाणी और संस्कृत भाषा का) (यः) जो (परमः) सबसे बड़ा और मुख्य (रसः) रस अर्थात् आनन्दस्रोत है, (यत्) जो (ज्योतिः) प्रकाशक सूर्य, अग्नि, आदि की भाँति पद-पदार्थों के रूपों का दर्शन कराने वाली ज्योति है (तत्) वह (पुण्यतमम्) पुण्यजनकता या धर्मजनकता का हेतु है। क्योंकि व्याकरण रूपी ज्योति द्वारा ही साधु, असाधु शब्दों के स्वरूप का दर्शन होता है। साधु शब्दों का ज्ञान और उनका प्रयोग पुण्य और धर्म का कारण माना जाता है। अतः ऐसा व्याकरण नामक शास्त्र साधु शब्दों और उनके अर्थों का प्रकाशक अथवा बोधक होने से (ज्योतिः) सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् और दीपक की भाँति ज्योति तुल्य है। अन्ततः उसी ज्योति के द्वारा वेदों का ज्ञान, वेदमूलक ओम्पदवाच्य ब्रह्म ज्योति का दर्शन होता है। इसलिए (अयम्) यह व्याकरण शास्त्र उस परम ज्योति को प्राप्त (आञ्जसः) सरल (मार्गः) मार्ग या साधन है॥12॥

इसी व्याकरण शास्त्र की महिमा का प्रतिपादन आगे 22वें श्लोकपर्यन्त करते हैं।

**अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।**
**तत्वाऽवबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥13॥**

अन्वयः- अर्थप्रवृत्तितत्त्वानाम् निबन्धनम् शब्दा एव। शब्दानाम् तत्त्वावबोधः व्याकरणाद् ऋते नास्ति।

व्याख्या- (अर्थप्रवृत्तितत्त्वानाम्) घट, पट, इत्यादि पदार्थों और नाना प्रकार की प्रवृत्तियों और व्यवहारों के तत्त्वों-वास्तविकताओं के (निबन्धनम्) ज्ञापक (शब्दा एव) शब्द ही होते हैं। और (शब्दानाम्) शब्दों के (तत्त्वावबोध:) स्वरूपादि का तात्त्विक ज्ञान (व्याकरणाद् ऋते नास्ति) व्याकरण शास्त्र के विना नहीं होता। कहा भी गया है-

शब्दार्थसम्बन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेपि च साध्वसाधून्।
साधुप्रयोगानुमिताँश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद।।

**तदद्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।**
**पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ।।14।।**

अन्वय:- तत् अपवर्गस्य द्वारम्, वाङ्मलानां चिकित्सितम् सर्वविद्यानाम् पवित्रम् अधिविद्यम् प्रकाशते।।

व्याख्या- (तत्) वह व्याकरण शास्त्र (अपवर्गस्य) मोक्ष का (द्वारम्) प्रवेश का प्रथम द्वार अथवा सोपान है, (वाङ्मलानाम्) वाणी के दोषों, अपभाषण, अनृतभाषण, अपशब्दप्रयोग, आदि का (चिकित्सितम्) निवारण या शोधन का साधन ऐसा ही है जैसे कि आयुर्वेद द्वारा शारीरिक रोगादि दोषों का ओषधि अथवा शल्यचिकित्सा से निवारण हुआ करता है। (सर्वविद्यानाम्) व्याकरणेतर विद्याओं के मध्य में प्रकृतिप्रत्ययविभागसम्बन्धी व्युत्पत्ति के अद्भुत लघु उपाय द्वारा यह व्याकरण (पवित्रम्) वाक्शुद्धि द्वारा पवित्रकारक होने से पवित्र विद्या है। अत: व्याकरण नामक विद्या (अधिविद्यम्) सब विद्याओं में मुख्य रूप से (प्रकाशते) प्रकाशित होती है। इस प्रकार उसका विद्याओं में विशेष स्थान है। वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने प्रकृत कारिका पर लिखी अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में एक श्लोक को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है-

आप: पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्र:।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहु:।।

अर्थात् सर्वाधिक शुद्धिकारक जल हैं। जलों को भी शुद्ध-पवित्र करने वाले ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्र हैं। और उन चारों वेदों को पवित्र करने वाले अर्थात् शुद्धोच्चारण द्वारा उनकी रक्षा करने

वाला व्याकरणशास्त्र है।।14।।

**यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।**
**तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम्।।15।।**

अन्वयः- यथा सर्वाः अर्थजातयः शब्दाकृतिनिबन्धनाः। तथा एव लोके विद्यानाम् एषा विद्या परायणम्।।

व्याख्या- (यथा) जैसे (सर्वाः) सारी (अर्थजातयः) मनुष्यत्व, पशुत्व, गोत्व, घटत्व, पटत्व, इत्यादि अर्थजातियाँ (शब्दाकृतिनिबन्धनाः) मनुष्यः, पशुः, गौः, घटः, पटः, इत्यादि शब्दों के भावरूप मनुष्यत्व, पशुत्व, गोत्व, घटत्व, पटत्व, इत्यादि शब्दों के वाच्य हुआ करते हैं (तथा एव) उसी प्रकार (लोके) संसार में (विद्यानाम्) विद्याओं के मध्य में (एषा विद्या) यह व्याकरण विद्या (परायणम्) शब्दों की संस्कारक होने से प्रधान या श्रेष्ठ है।।15।।

**इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।**
**इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।।16।।**

अन्वयः- इदम् सिद्धिसोपानपर्वणाम् आद्यम् पदस्थानम्। मोक्षमाणानाम् सा इयम् अजिह्मा राजपद्धतिः अस्ति।।

व्याख्या- (इदम्) व्याकरण नामक यह शास्त्र (सिद्धिसोपानपर्वणाम्) सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने वाले मार्ग की अनेक सीढ़ियों में (आद्यम्) सबसे पहली (पदस्थानम्) पैर रखने की सीढ़ी है। (मोक्षमाणानाम्) संसार के दुःखों से मुक्ति की कामना करने वाले साधक विद्वानों के लिए (सा) वह (इयम्) यह व्याकरण विद्या (अजिह्मा) अकुटिल अर्थात् सरल सुगम (राजपद्धतिः) राजमार्ग के समान है, ऐसा जानना चाहिए। कहा भी गया है, अखण्ड वाक्यस्फोट का ही अपर नाम शब्दब्रह्म है और शब्दब्रह्म का सम्यग् ज्ञाता ही परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।।16।।

**अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।**
**छन्दस्यः छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम्।।17।।**

अन्वयः- अत्र अतीतविपर्यासः छन्दस्यः आत्मा छन्दसाम् योनिम्

छन्दोमयीम् तनुम् केवलाम् अनुपश्यति।।

व्याख्या- (अत्र) इस व्याकरण में (अतीतविपर्यास:) शब्दों के अपभ्रंश प्रयोग (जो कि धर्मजनक नहीं हैं) की आशंका या भय नहीं रहता। (छन्दस्य:) वेदों के और संस्कृत भाषा के शब्दों के ज्ञान से शुद्ध हुआ (आत्मा) अन्तःकरण (छन्दसाम्) वेदमन्त्रों के (योनिम्) कारण रूप (छन्दोमयीम्) छन्दोवाक्, अथवा आद्यऋषियों की अन्तरात्मा में सूक्ष्म रूप से ईश्वरप्रेरणा से प्राप्त वेदवाणी रूप (तनुम्) शरीर को (केवलाम्) जो कि एकमात्र मूल-यथार्थ ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण वाणी है, उसको ही एक वैयाकरण विद्वान् भाषा शब्दों के संस्कार के लिए (अनुपश्यति) आश्रय रूप में जानता है।।17।।

**प्रत्यस्तमितभेदाया यद् वाचो रूपमुत्तमम्।**
**यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते।।18।।**

अन्वय:- प्रत्यस्तमितभेदाया: वाच: यद् उत्तमम् रूपम्, यत् तमसि ज्योति: एव शुद्धम् प्रवर्तते।।

व्याख्या- (प्रत्यस्तमितभेदाया:) जिसका ध्वनिकृत भेद या रूप छिप गया हो ऐसी (वाच:) वाणी का (यद्) जो (उत्तमम् रूपम्) श्रेष्ठ रूप है। (यद्) जो (अस्मिन् तमसि) इस अज्ञानान्धकार में (ज्योति:) ज्ञानरूप केवल प्रकाश है, वह अन्धकार में अग्नि के समान (शुद्धम् प्रवर्तते) शुद्ध ज्ञान से वस्तुओं के स्वरूप को प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाया करता है। अथवा, अज्ञानावस्था में प्रपञ्च रूप में वह अवभासित होता है। जैसे कि 'घटो भवति' इस वाक्य में वैयाकरणों को विदित है कि घट:पद में प्रातिपदिक घट से प्रथमाविभक्ति एकवचन का प्रत्यय सुँ लगा हुआ है, और भवति में 'भू' धातु से वर्तमान काल (लट्) में प्रथमपुरुष एकवचन विभक्ति का 'तिप्' प्रत्यय है। परन्तु अवैयाकरण विना इन विभक्तियों को पहचाने केवल कान से सुनाई देने वाले वर्णों की धवनिमात्र से शब्द और वाक्य समझता है। उधर वैयाकरण जानता है कि इन सब विभक्तिसमन्वित शब्दरूपों से भिन्न उनसे व्यञ्जित होने वाला अखण्डस्फोटरूप अर्थ ही मुख्य है। इस प्रकार जैसे अग्नि के प्रकाश में वस्तुओं का रूप दिखाई देने

लगता है, उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र रूपी ज्योति के प्रकाश में वाणी का वास्तविक अभिप्राय अथवा सूक्ष्मतम रूप प्रकट हुआ करता है।।18।।

**वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।**
**व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते।।19।।**

अन्वय:- वैकृतं समतिक्रान्ता आलोकतमसी व्यतीत्य मूर्तिव्यापारदर्शनम् यम् प्रकाशम् उपासते (तद् व्याकरणं प्रशस्तम् इति भाव:)।

व्याख्या- (वैकृतम्) वैकृत नामक नाद को (समतिक्रान्ता) सम्यक् रूप से अतिक्रमण करके मध्यमादि रूपिणी जो वाक् है, वह (आलोकतमसी) प्रकाश और अन्धकार को (व्यतीत्य) परित्याग कर (मूर्तिव्यापारदर्शनम्) मूर्ति और व्यापार को प्रदर्शित करने वाले अर्थात् वस्तु का अखण्डरूप एवं व्यापार 'घट: उच्चारण से अभिव्यंग्य घटत्वावच्छिन्न (घटत्वयुक्त) घटवस्तु का बोधन कराना, इत्यादिरूपेण ज्ञापक व्याकरण नामक विद्या का (यम् प्रकाशम्) जो प्रकाश है, उस को (उपासते) वैयाकरण विद्वान् सम्यक्तया अपनाया करते हैं।। इस कारिका की व्याख्याकारों ने अन्य प्रकार से भी व्याख्या की है, जैसे कि अम्बाकर्त्री टीकाकार श्री रघुनाथ शर्मा के अनुसार यह कारिका निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त योगियों की स्थिति का चित्रण करती है, जो कि मूर्ति और व्यापार से युक्त प्रपञ्च (जगत्) से परे, विद्या और अविद्या से परे सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार किया करते हैं।।19।।

**यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृते:।**
**शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्।।20।।**

अन्वय:- यत्र वाच: निमित्तानि अक्षरस्मृते: चिह्नानि इव शब्दपूर्वेण योगेन प्रतिबिम्बवत् भासन्ते।।

व्याख्या- (यत्र) जिस व्याकरण में (वाच:) वाणी के (निमित्तानि) वर्ण, पद, वाक्य, प्रकृति, प्रत्यय, इत्यादि (अक्षरस्मृते:) आकाशवृत्ति वाले अक्षरों के स्मरण के (चिह्नानि इव) चिह्नों, लिपियों के समान (शब्दपूर्वेण योगेन) प्रकृति-प्रत्यय के विभाग द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति और पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाने से (प्रतिबिम्बवत्) प्रतिबिम्ब परछाई की भाँति (भासन्ते)

प्रतीत होते हैं, वह व्याकरण प्रशस्य है। आशय यह है कि व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय की व्युत्पत्ति मध्यमा वाणी के स्मरण के लिए है, न कि वास्तविक। यद्यपि अखण्ड वाक् होने से उसमें इस प्रकार का विभाजन तत्त्वतः काल्पनिक है, तथापि व्युत्पत्ति दर्शाने के लिए संस्कारोत्पादकता, आदि अन्य भी प्रयोजन हैं।।20।।

**अथर्वणामङ्गिरसां साम्नामृग्यजुषस्य च।**
**यस्मिन्नुच्चावचा वर्णाः पृथक्स्थितिपरिग्रहाः।।21।।**

अन्वयः- ऋग्यजुषस्य साम्नाम् अङ्गिरसाम् अथर्वणाम् च उच्चावचाः वर्णाः यस्मिन् पृथक् स्थितिपरिग्रहाः।।

व्याख्या- (ऋग्यजुषस्य) ऋग्वेद और यजुर्वेद का (साम्नाम्) सामवेद का (च) और (अङ्गिरसाम्) अङ्गिरस ऋषि के माध्यम से प्रादुर्भूत होने वाले (अथर्वणाम्) अथर्ववेद का (उच्चावचाः) अनेक प्रकार का (वर्णाः) जो- उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर युक्त अकारादि स्वरों का और ककारादि व्यञ्जनों का वर्णसमुदाय है, अथवा 'अग्निमीडे पुरोहितम्0', 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा0', 'अग्न आयाहि वीतये0', 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति0' इत्यादि रूपेण ऋग्वेदादि चारों वेदों के वर्ण, पद (यस्मिन्) जिस व्याकरण शास्त्र में (पृथक् स्थितिपरिग्रहाः) पृथक् पृथक् विवेचित किए जाते हैं, वह जानने योग्य है।

ऋग्यजुषस्य यह समाहारद्वन्द्व समास का षष्ठ्यन्त पद है। इसमें 'अचतुरविचतुर0' (अष्टाध्यायी, 5-4-77) से अच् प्रत्यय का निपातन होने से यह 'ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम्, तस्य ऋग्यजुषस्य' इस प्रकार अकारान्त पद बना है।।21।।

**यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।**
**तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।।22।।**

अन्वयः- यद् एकम् प्रक्रियाभेदैः बहुधा प्रविभज्यते, तद् व्याकरणम् आगम्य परम् ब्रह्म अधिगम्यते।।

व्याख्या- (यद्) जो व्याकरण शास्त्र (एकम्) अकेला होते हुए भी (प्रक्रियाभेदैः) नाम, आख्यात, कृत्, तद्धित, इत्यादि प्रक्रियाओं के

भेद-प्रभेदों से (बहुधा) अनेक प्रकार से (प्रविभज्यते) विभक्त किया जाता है (तद् व्याकरणम्) उस व्याकरण को (आगम्य) अच्छी प्रकार जानकर (परम् ब्रह्म) सबसे महान् परब्रह्म परमेश्वर को (अधिगम्यते) प्राप्त किया जाता है।।22।।

अब इस बात पर विचार करते हैं कि लोग पारस्परिक सम्वाद-सम्भाषण में नये-नये शब्दों का जो प्रयोग करते हैं और उच्चारण करते ही वह शब्द विनष्ट होने से उसी समय पुनः नहीं सुनाई देता तो क्या शब्दों को उत्पादविनाशशील होने से अनित्य माना जाना चाहिए? उत्तर देते हैं-

**नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।**
**सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः।।23।।**

अन्वयः- सानुतन्त्राणाम् सूत्राणाम् भाष्याणाम् प्रणेतृभिः च महर्षिभिः शब्दार्थसम्बन्धाः नित्याः समाम्नाताः।।

व्याख्या- (सानुतन्त्राणाम्) तन्त्र अर्थात् मूल व्याकरणशास्त्र के अनन्तर रचे गये वार्तिक आदि के सहित (सूत्राणाम्) सूत्रों के (भाष्याणाम् च) और महाभाष्यादि के (प्रणेतृभिः महर्षिभिः) रचयिता पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, आदि महर्षियों के द्वारा (शब्दार्थसम्बन्धाः) वेदों एवं संस्कृत भाषा के शब्दों, उनके अर्थों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को (नित्याः) नित्य सदा रहने वाले, कभी विनष्ट न होने वाले (समाम्नाताः) बतलाया गया है। यदि शब्द उत्पत्तिविनाशशील होने या नये-नये होने पर अनित्य मान लिए जायेंगे तो उनके अर्थ दूसरें (श्रोताओं) को कैसे विदित होंगे? शब्दों के इस प्रकार असंख्येय और अनन्त होने पर पाणिनि, आदि ऋषियों ने शब्दों, उनके अर्थों और सम्बन्धों को नित्य मानकर जो व्याकरण के सूत्र लिखे हैं, उनकी सङ्गति कैसे लगेगी? अतः ये तीनों नित्य माने जाते हैं। इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य प्रतिपादित किया है, जैसा कि महाभाष्य में वार्तिक है, 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'। यहाँ सिद्धशब्द का अर्थ नित्य किया गया है। इतना ही नहीं, किन्तु शब्दों में रहने वाले वर्णों

को भी नित्य माना गया है। जैसा कि कहा गया है- 'नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः', इत्यादि। अर्थात् नित्य शब्दों में जो वर्ण रहते हैं वे भी कूटस्थ (सदा एक से अपरिवर्तनीय रहने वाले), अविचलित, न कभी उत्पन्न होने वाले, न नष्ट होने वाले, नित्य हुआ करते हैं, अस्थायी या अनित्य नहीं। जैसे कि 'गौः' इस शब्द में गकार, औकार, विसर्ग का क्रमिक उच्चारण होने पर वे वर्ण नष्ट हुए से लगते हैं, परन्तु उच्चरित वर्णों का संस्कार वक्ता के मन में बना रहता है और अन्तिम वर्ण के उच्चारण होने के साथ ही पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कारजनित एक जातिरूप अर्थ का ज्ञान वक्ता और श्रोता को शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता के कारण हो जाया करता है। यहाँ यह बात जानने योग्य है कि यद्यपि ध्वनिरूप में वर्णों का उच्चारण उत्पत्तिविनाशशील होने के कारण अनित्य सा है, तथापि स्फोट रूप में वे नित्य हैं। उसी से नित्य वर्णों का परिज्ञान जब-जब उस शब्द की उच्चारण द्वारा अभिव्यक्ति होगी, तब-तब होता रहेगा। यही शब्दार्थसम्बन्ध नित्यता का रहस्य है। मीमांसकों के अनुसार भी अविभक्त शब्दार्थ का भाव ही सम्बन्ध है और वह नित्य रहता है।।23।।

अब इस पर विचार करते हैं कि शब्दार्थसम्बन्ध में तीनों को नित्य मानने पर क्या शब्दों में जो प्रकृतिप्रत्यय का विवेचन व्याकरण में किया जाता है, वह अनित्य है या नित्य?

**अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।**
**अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः।।24।।**

अन्वयः- ये अपोद्धारपदार्थाः च ये स्थितलक्षणाः अर्थाः ये च अन्वाख्येयाः शब्दाः ये च प्रतिपादका अपि।।

व्याख्या- (ये) जो (अपोद्धारपदार्थाः) जिन पदों को विवक्षा आदि किसी प्रयोजन के लिए वाक्य से पृथक कर प्रयोग में लाया जाता है, वे अपोद्धार कहे जाते हैं, उनके अर्थ अपोद्धारपदार्थ हुए। (च) और (ये) जो (स्थितलक्षणाः, अन्वाख्येयाः च ये शब्दा ये च अपि प्रतिपादकाः) व्यवस्थित लक्षण वाले शब्द हैं, जैसे कि धातुओं से विहित प्रत्ययों का

नाम तिङ्, कृत्, कृत्य है और तदन्त शब्द तिङन्त, कृदन्त कहे जाते हैं और प्रातिपदिकों से विहित सुबादि और तद्धितादि प्रत्ययों के योग से बने शब्द सुबन्त, तद्धितान्तादि कहे जाते हैं, यह व्युत्पत्ति ही शब्दों का अन्वाख्यान है और इस प्रकार के शब्द अन्वाख्येय कहे जाते हैं। अन्य शब्द जो रूढ या अव्युत्पन्न होते हैं, वे उसी रूप में अर्थों के वाचक होते हैं। इन सब प्रकार के शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व का परिज्ञान प्रतिपद पाठ से करना शब्दों के असंख्येय होने के कारण असुकर और अतिकालापेक्ष्य था। अतः करुणावरुणालय ऋषियों ने अल्पबुद्धि मनुष्यों के हितार्थ उत्सर्गापवादलक्षण सूत्रों का प्रणयन कर वैदिक और लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान किया है, जिससे कि थोड़े समय में ही महती शब्दराशि का अर्थसहित ज्ञान सुगमता और सरलता से हो सके। कहा भी गया है-

अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद्वाक्यार्थनिर्णयः।
पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम्।।

प्रकृत श्लोक में क्रियापद नहीं है और वह आगे आने वाले 26वें श्लोक में पठित 'अनुगम्यन्ते' इस क्रियापद से अध्याहार करने पर पहले ही यहाँ पर सम्बद्ध किया गया है।।24।।

**कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।**
**धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु।।25।।**

अन्वयः- ये साध्वसाधुषु (शब्देषु) धर्मे प्रत्यये च अङ्गम् कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।।

व्याख्या- (ये) जो (साध्वसाधुषु शब्देषु) शुद्ध और अशुद्ध शब्दों में (धर्मे) धारण करने योग्य पुण्यजनक (प्रत्यये) शब्दार्थ के जानने में (अंगम्) हेतु हैं (कार्यकारणभावेन) कारणरूप शब्द और कार्यरूप अर्थ के सम्बन्ध से (च) और (योग्यभावेन) जो शब्द है, वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है, जैसे कि 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (सम्बन्धाः) पारस्परिक सम्बन्ध (स्थिताः) अवस्थित हैं। जिस प्रकार चक्षु, इत्यादि इन्द्रिय और उससे ग्राह्य रूप, इत्यादि विषय में प्रकाश्य-प्रकाशकता रूप सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार जिस शब्दविशेष का जिस अर्थविशेष के

साथ तादात्म्य हुआ करता है, वह शब्द उसी अर्थ के परिज्ञान में कारण और योग्य माना जाता है। यद्यपि शब्दविशेष के उच्चारण मात्र से अर्थविशेष का बोधन होना संस्कृत शब्दों की भाँति लौकिक अपभ्रंश भाषा शब्दों में भी समान है, तथापि संस्कृत शब्दों में जो उच्चारण करने पर पुण्यजनकता होती है, वह लौकिक शब्दों (अपभ्रंश भाषाशब्दों) के विषय में नहीं होती। इस कारण अर्थज्ञानपूर्वक संस्कृत शब्दों का प्रयोग धर्मजनक होने से अधिक लाभदायक है, यह इस कारिका से स्पष्ट है।।25।।

**ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपदर्शिताः।**
**स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम्।।26।।**

अन्वयः- ते लिङ्गै च स्वशब्दैः च अस्मिन् शास्त्रे उपदर्शिताः, यथागमम् स्मृत्यर्थम् केचित् एव अनुगम्यन्ते।।

व्याख्या- (ते) वे पूर्वोक्त दो श्लोकों में वर्णित विभिन्न प्रकार के शब्द (लिङ्गैः) जैसे कि सु, औ, जस् इत्यादि 21 विभक्तियों का योग संज्ञा-सर्वनाम शब्दों से तथा तिप्, तस्, झि, इत्यादि विभक्तियों का योग धातुसंज्ञक शब्दों से होता है (च) और (स्वशब्दैः) प्रतिपद पाठ, गणपाठ, निपात, अव्यय, आदि संज्ञाओं से पठित शब्दों से (अस्मिन् शास्त्रे) इस व्याकरणशास्त्र में (उपदर्शिताः) वर्णित हैं (यथागमम्) वेदादि शास्त्रों के अनुसार (स्मृत्यर्थम्) स्मृति के लिए (केचित् एव) कुछ ही शब्द (अनुगम्यन्ते) व्युत्पत्ति द्वारा जाने जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि वेद में प्रयुक्त शब्द और संस्कृत भाषा में प्रयुक्त शब्दों में कुछ में ही समानता है, कुछ शब्दों के रूप वेद में भिन्न भी हैं, और उनके प्रयोग केवल वेदों तक ही सीमित है, लौकिक संस्कृत में वे नहीं प्रयुक्त होते। यह भेद व्याकरण स्मृति से ही जाना जाता है।26।।

अब इस पर विचार करते हैं कि व्याकरण शास्त्र में साधु शब्दों की व्यवस्था किस प्रकार प्रामाणिक मानी जा सकती है?

**शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् ।**
**अर्थप्रत्यायनाऽभेदे विपरीतास्त्वसाधवः।।27।।**

अन्वयः- अर्थप्रत्यायनाभेदे साधवः आगमात् शिष्टेभ्यः धर्मसाधनम्

सिद्धाः। विपरीताः तु असाधवः।।

व्याख्या- (अर्थप्रत्यायनाभेदे) साधु संस्कृत शब्दों से और असाधु अन्य लोकप्रयुक्त अपभ्रंश भाषा शब्दों से अर्थ के परिज्ञान में कोई अन्तर न होते हुए भी (साधवः) केवल साधु शब्द ही (आगमात्) व्याकरणादि शास्त्रपरम्परा से तथा (शिष्टेभ्यः) शास्त्रविद् विद्वानों की परम्परा से (धर्मसाधनम्) धर्म अथवा पुण्य के साधन हुआ करते हैं और (असाधवः तु) असाधु असंस्कृत शब्द तो (विपरीताः) पुण्य या धर्म से विपरीत ही फल देने वाले हुआ करते हैं, वे पुण्यजनक या धर्मजनक नहीं होते।।27।।

अब इस पर विचार करते हैं कि भले ही वैदिक शब्दों को आप नित्य कहें, किन्तु जिन वेदभिन्न लौकिक शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण द्वारा की जाती है उन्हें नित्य और साधु धर्मजनक कैसे माना जाता है?

**नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।**
**प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्था नित्यतोच्यते।।28।।**

अन्वयः- नित्यत्वे वा कृतकत्वे तेषाम् आदिः न विद्यते। सा च एषा व्यवस्था प्राणिनाम् इव नित्यता उच्यते।।

व्याख्या- (नित्यत्वे कृतकत्वे वा) शब्दों का चाहे नित्यत्व स्वीकार करें चाहे अनित्यत्व या कार्यत्व, इन दोनों ही पक्षों में (आदिः) प्रारम्भ कब से है, (न विद्यते) यह नहीं जाना जाता। अथवा यह समझना चाहिए कि (सा एषा) वह यह (व्यवस्था) अनादित्व की व्यवस्था (प्राणिनाम् इव) मनुष्यादि प्राणियों के समान (नित्यता उच्यते) प्रवाह से नित्य होती है। आशय यह है कि जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणियों का संसार में जन्म और मृत्यु तथा सृष्टि और प्रलय का चक्र प्रवाह से अनादि और नित्य हुआ करता है, उसी प्रकार वेद और संस्कृत भाषा के शब्द भी प्रवाह से अनादि, अविनाशी और नित्य माने जाते हैं।।28।।

यदि कोई कहे कि लोक-व्यवहार से ही शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व का परिज्ञान हो जाया करेगा तब व्यवस्था-शास्त्र की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहते हैं-

**नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्तुमर्हति।**
**तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः॥29॥**

अन्वयः- इमाम् व्यवस्थाम् कश्चित् अनर्थिकाम् कर्तुम् न अर्हति। तस्मात् शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः निबध्यते॥

व्याख्या- (इमाम् व्यवस्थाम्) इस व्याकरण शास्त्र (सूत्ररूप जैसे कि पाणिनिमुनि की अष्टाध्यायी) को (कश्चित्) कोई तार्किक (अनर्थिकाम्) निरर्थक (कर्तुम् न अर्हति) नहीं कर सकता। (तस्मात्) इस कारण (शिष्टैः) शिष्ट वैयाकरणों के द्वारा शब्दों की नित्यता को प्रतिपादित करने वाली (साधुत्वविषया) साधु, शुद्ध शब्दों की व्युत्पत्ति को दर्शाने वाली (स्मृतिः) व्याकरण शास्त्र (निबध्यते) रचा गया है, अष्टाध्यायी सूत्र रूप में व्याकरण का प्रवचन किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि यदि साधु धर्मजनक शब्दों के पारम्परिक प्रयोग की संरक्षा का और उन्हें जानने का सरल, सुगम उपाय रूप इस प्रकार की स्मृति का प्रणयन नहीं किया गया होता तो असाधु शब्दों के असंख्य और अनन्त होने से उनमें से साधु शब्दों को पहचानना कठिन हो जाता और लोग उन्हें नहीं जान पाते। इसलिए व्याकरण शास्त्र की रचना का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है॥29॥

यदि कोई कहे कि तर्क या अनुमान से साधु शब्दों का ज्ञान हो जायेगा, उस दशा में व्याकरण की क्या आवश्यकता? इस शंका का समाधान करते हैं-

**न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।**
**ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्॥30॥**

अन्वयः- च आगमात् ऋते तर्केण धर्मः न व्यवतिष्ठते। ऋषीणाम् अपि यत् ज्ञानम् तद् अपि आगमपूर्वकम्॥

व्याख्या- (च) और (आगमात् ऋते) वेद के विना (तर्केण) केवल तर्क या अनुमान से (धर्मः) उचित अनुचित, पाप-पुण्य और शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व का निर्णय (न) नहीं (व्यवतिष्ठते) व्यवस्थित हो सकता। क्योंकि वेदादि शास्त्र ही धर्म तत्त्वज्ञान में प्रमाण हैं, (ऋषीणाम्-

अपि) ऋषियों का भी (यत्) जो (ज्ञानम्) ज्ञान है, (तद् अपि) वह भी (आगमपूर्वकम्) वेदों पर ही आधारित है। उन्होंने वेदों के अध्ययन के पश्चात् जो कुछ जाना उसी का लेखन) किया है और उसका उपदेश किया है। योगज धर्म के प्रभाव से अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान होने पर भी योग में प्रवृत्त होने के पूर्व उनका सारा ज्ञान वेदमूलक ही रहता है, उससे भिन्न या विपरीत नहीं।।30।।

यदि कोई कहे कि जहाँ परोक्षातिपरोक्ष विषय अनुमानादि प्रमाणों से गृहीत नहीं हो सकते, वहाँ पर आगम प्रमाण हो सकता है। किन्तु जहाँ पर तर्क की पहुँच है, अथवा तर्क से किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं, वहाँ पर आगम की क्या आवश्यकता? इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं–

**धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।**
**न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाधते।।31।।**

अन्वयः– धर्मस्य अव्यवच्छिन्नाः च व्यवस्थिताः पन्थानः तान् कश्चित् लोकप्रसिद्धत्वात् तर्केण न बाधते।।

व्याख्या– (धर्मस्य) धर्म के (ये) जो (अव्यवच्छिन्नाः) अटूट, सदा सत्पुरुषों के माध्यम से बने रहने वाले (व्यवस्थिताः) सुव्यवस्थित, अच्छी प्रकार से नियत एवं निर्धारित (पन्थानः) मार्ग हैं, (तान्) उनको (कश्चित्) कोई भी शिष्ट व्यक्ति (लोकप्रसिद्धत्वात्) लौकिक व्यवहारों के अनुसार (तर्केण) अपनी युक्तियों से (न) नहीं (बाधते) खण्डित कर सकता है। जैसे कि लोक में ईश्वरोपासना के लिए आजकल विभिन्न मत-मतान्तरों में अचेतन मनुष्यकृत मूर्तियों की पूजा का प्रचलन तेजी से चल रहा है, उसको ठीक मानकर तर्क से कोई वेदों की निराकार, सर्वज्ञ, सर्वगत, सनातन ईश्वर की उपासना करने के विधान को खण्डित नहीं कर सकता। क्योंकि वेदों में 'न तस्य प्रतिमा अस्ति', 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (क्रमशः, यजुर्वेद, 32-3, 40-8)।' इत्यादि रूप से जगत् के रचयिता ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अशरीरी और निराकार प्रतिपादित किया गया है।

इसलिए परमाप्तोक्त वेदरूप शब्द अचिन्त्य, सूक्ष्म और परोक्ष पदार्थों के विषय में सर्वाधिक प्रमाण हैं। कहा भी गया है-

(क)- 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।' (कस्यचित्),

(ख)- 'तस्मात् शब्दमूल एव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः।'
(बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्यम्, 2-1-17) ।।31।।

साथ ही यह भी अवधेय है कि अनुमानादि सदा सर्वत्र समुचित ही परिणाम तक पहुँचते हैं, यह कहना भी कठिन है। उनमें नियम का अनिश्चय है, इस बात को प्रतिपादित करते हुए यह कारिका है-

**अवस्था देशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु।**
**भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ।।32।।**

अन्वयः- अवस्था देशकालानाम् भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु भावानाम् प्रसिद्धिः अनुमानेन अतिदुर्लभा।।

व्याख्या- (अवस्थादेशकालानां भेदाद्) अवस्थाओं के भेद से, देशों के भेद से और वसन्तादि ऋतुकालों के भेद से (भिन्नासु) पृथक्-पृथक् (शक्तिषु) शक्तियों में (भावानाम्) भावों वस्तुओं की (प्रसिद्धिः) केवल अनुमान से या युक्ति से प्राप्ति या विशेष जानकारी (अतिदुर्लभा) अति कठिन है। जैसे कि बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य अवस्थाओं में शरीर की शक्तियाँ एक समान न होकर भिन्न-भिन्न और बढ़ने-घटने वाली होती रहती है, जैसे कि हिमालयीय प्रदेश का जलवायु शीतबहुल और उष्णप्रदेशीय जलवायु उष्णबहुल होता है, और जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्यकिरणों में अत्युष्णता और हेमन्त ऋतु में अतिशीतता हुआ करती है। ये सब प्रत्यक्षगम्य हैं। इन्हें यदि कोई अनुमान से अन्यथा मानने लगे तो जैसे उसकी बात प्रमाण या सत्य नहीं मानी जा सकती है, वैसे ही आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, आदि सूक्ष्मतम अतीन्द्रिय वस्तुओं के अस्तित्व में और धर्माधर्म के पुण्यपाप रूप फलों के सम्बन्ध में वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य ही सर्वोपरि है।।32।।

कभी-कभी शक्तिशाली वस्तु भी प्रतिबन्धक हेतु के प्रबल होने से

समय आने पर शक्तिहीन हो जाया करती है, इसको दर्शाते हुए आगे की कारिका में कहा गया है-

**निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तान्तामर्थक्रियां प्रति।**
**विशिष्टद्रव्यसम्बन्धो सा शक्तिः प्रतिबध्यते॥33॥**

अन्वयः- ताम् ताम् अर्थक्रियाम् प्रति निर्ज्ञातशक्तेः द्रव्यस्य सा शक्तिः विशिष्टद्रव्यसम्बन्धो प्रतिबध्यते॥

व्याख्या- (ताम् ताम्) उस-उस (अर्थक्रियाम् प्रति) स्वाभाविक अर्थक्रिया के प्रति (निर्ज्ञातशक्तेः द्रव्यस्य) अच्छी प्रकार ज्ञात हो शक्ति या योग्यता जिस द्रव्य की (सा) वह (शक्तिः) शक्ति (प्रतिबध्यते) रोक दी जाती है। जैसे कि अग्नि की दाहकता, उष्णता और प्रकाशकता नामक शक्तियाँ अग्नि के ऊपर मेघ वरसने पर पानी के प्रभाव से नष्ट हो जाया करती हैं, यही नियम अन्य प्रतिबद्ध हुई शक्ति वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसी प्रकार तर्क भी प्रतिबन्धक हेतु के बलवत्तर होने से वस्तु की सिद्धि में सहायक नहीं हुआ करता है॥33॥

यह भी देखने में आता है कि एक के द्वारा अनुमोदित वस्तु का कभी-कभी अन्य के द्वारा प्रबलतर तर्क से खण्डन कर दिया जाता है। इस कारण भी पदार्थ की सिद्धि में तर्क कभी अक्षम भी हो जाता है। अतः तर्क पर ही अकेले विश्वास नहीं किया जा सकता। इस पर यह कारिका है-

**यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।**
**अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते॥34॥**

अन्वयः- कुशलैः अनुमातृभिः यत्नेन अपि अनुमितः अर्थः अन्यैः अभियुक्ततरैः (अनुमातृभिः) अन्यथा एव उपपद्यते॥

व्याख्या- (कुशलैः) विषय के अच्छे जानकार (अनुमातृभिः) तार्किकों के द्वारा (यत्नेन अपि) यत्नपूर्वक अनुमान करने या विचार करने पर भी (अनुमितः) निश्चित किया गया (अर्थः) पदार्थ (अन्यैः अभियुक्ततरैः) दूसरे प्रबल तार्किकों के द्वारा (अन्यथा एव) अन्य प्रकार से ही (उपपद्यते) निर्णीत किया जाता है।

इस कारिका में कही गई बातों पर विचार बहुत पहले उपनिषदों में और ब्रह्मसूत्र 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र0सूत्र, 2-1-11) में तथा उसके शांकरभाष्य में हमें मिलता है, जहाँ कहा गया है कि तर्क की प्रतिष्ठा या स्थिरता या आदर न होने से अनुमान का निष्कर्ष अन्यथा या मिथ्या भी हो सकता है। इसलिए वेद से जानने योग्य तत्त्व का खण्डन केवल तर्क से नहीं किया जा सकता। क्योंकि आगमप्रमाणरहित अथवा आगमविरोधी, मनुष्य की उत्प्रेक्षामात्र से, प्रस्तुत होने वाले तर्क अप्रतिष्ठित और अश्रद्धेय हुआ करते हैं। इसका कारण यह है कि उत्प्रेक्षाओं पर किसी का कोई अंकुश तो होता नहीं, वे मनमाने होते हैं। जैसे कि किन्हीं विद्वानों के द्वारा उत्प्रेक्षित तर्क उनसे भिन्न अधिक विद्वानों के द्वारा तर्काभास माना जाता है, और उनके द्वारा भी उत्प्रेक्षित तर्क उनसे भी प्रबल तार्किकों के द्वारा तर्काभास सिद्ध कर खण्डित कर दिया जाता है इस प्रकार तर्कों की अधिक प्रतिष्ठा नहीं होती, क्योंकि मनुष्यों की मतियों में भिन्नता हुआ ही करती है।।34।।

यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि ऋषियों का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म और व्यवहितविषयक जो योगज ज्ञान होता है, उसे भी तर्क की कोटि में माने जाने पर क्या यथार्थ नहीं माना जाना चाहिए? इसका समाधान अगली कारिका में करते हैं।

**परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।**
**मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्।।35।।**

अन्वयः- परेषाम् असमाख्येयम् मणिरूप्यादिविज्ञानम् तद्विदाम् अभ्यासाद् एव जायते आनुमानिकम् न।।

व्याख्या- (परेषाम्) दूसरे साधारण लोगों के लिए (असमाख्येयम्) जो बताया नहीं जा सकता, वह (मणिरूप्यादिविज्ञानम्) मणि और चाँदी, आदि की यथार्थ जानकारी, जैसे कि अमुक मणि वास्तविक है कि नहीं, अमुक वस्तु वस्तुतः चाँदी है या नहीं, इत्यादि की सही जानकारी (अभ्यासात् एव) बार-बार परखने के अभ्यास से ही (जायते) हुआ करती है। (आनुमानिकम्) अनुमान से उत्प्रेक्षित (न) नहीं होता है।

आशय यह है कि जैसे लोक में मणि रत्नों के पारखी बार-बार के अभ्यास से ही रत्न पहचानने की कला में दक्षता प्राप्त करते हैं, और जैसे संगीत में षड्जादि स्वरों का यथार्थ ज्ञान संगीतशास्त्र से सीखने-पढ़ने मात्र से न होकर उनके प्रयोग का पुनः-पुनः अभ्यास करने से हुआ करता है, उसी प्रकार ऋषि लोग भी योग समाधि द्वारा बार-बार के अभ्यास से ही अतीन्द्रिय पदार्थों के द्रष्टा हुआ करते हैं, न कि अनुमान से। इस कारण आनुमानिकों या तार्किकों की बातों में भले ही अविश्वास करना सम्भव है, परन्तु ऋषियों के विषय में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं हो सकता।।35।।

इस विषय में अन्य भी युक्ति दर्शाते हैं:-

**प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।**
**पितृरक्षःपिशाचानां कर्मान्ता एव सिद्धयः।।36।।**

अन्वयः- पितृरक्षःपिशाचानाम् कर्मान्ताः एव सिद्धयः (ताः) प्रत्यक्षम् अनुमानम् च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।।

व्याख्या- (पितृरक्षःपिशाचानाम्) पितरों, राक्षसों और पिशाचों की (कर्मान्ताः) कर्मों के फलों के अनुसार (एव) ही (सिद्धयः) व्यवहित, सूक्ष्म, आदि वस्तुओं के दर्शन अर्थात् ज्ञान की सिद्धियाँ हुआ करती हैं और वे (प्रत्यक्षम्) दोषरहित चक्षु, आदि इन्द्रिय से रूपादि विषय का जैसा ज्ञान (च) और (अनुमानम्) लिंग के ज्ञान से उत्पन्न अदृष्ट के जैसे ज्ञान को (व्यतिक्रम्य) छोड़कर (व्यवस्थिताः) प्रवृत्त हुआ करती हैं। कहा जाता है कि दीवार आदि के व्यवधान होने पर भी घर के भीतर की वस्तुओं को पितर, राक्षस और पिशाच देख लिया करते हैं। इसका हेतु उनके पूर्व किये हुए कर्मों का फल ही माना जाता है। उसी प्रकार ऋषियों का योगज ज्ञान भी प्रत्यक्ष, अनुमान जन्य ज्ञान से परे सूक्ष्म, व्यवहित, आदि होता है, जो कि प्रमाण माना जाता है।

(इस कारिका में 'पितृरक्षःपिशाचानाम्' शब्द से अभिधेय तत्त्वतः कौन हैं और किस प्रकार के हैं, इसका ग्रन्थकार के द्वारा स्पष्ट चित्रण नहीं किए जाने से यहाँ इनके विषय में कुछ टिप्पणी करना सम्भव नहीं है-

व्याख्याकार)।।36।।

अब प्रश्न होता है कि आर्षज्ञान यदि लौकिक सन्निकर्षाभाव के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान से गम्य ज्ञान से भी बढ़कर है तो वह किस प्रकार का है? इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं-

**आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।**
**अतीताऽनागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।।37।।**

अन्वय:- आविर्भूतप्रकाशानाम् अनुपप्लुतचेतसाम् (ऋषीणाम् इति शेष:) अतीतानागतज्ञानम् प्रत्यक्षात् न विशिष्यते।।

व्याख्या- (आविर्भूतप्रकाशानाम्) निरन्तर तप और योगाभ्यास से जिनका अन्त:करण सत्त्वगुणबहुल होकर यथार्थ ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण हो जाया करता है (अनुपप्लुतचेतसाम्) जिनके चित्त विषयवासनाजनित उपद्रवों अर्थात् मलिनतादि दोषों से ग्रस्त न होकर विशुद्ध हो गये होते हैं, ऐसे ऋषियों का (अतीतानागतज्ञानम्) भूत और भविष्यत् कालों से सम्बन्धित और सूक्ष्म, स्थूल, व्यवहित, अव्यवहित विषयक ज्ञान प्रत्यक्षजन्यज्ञान के समान ही होता है, उससे भिन्न नहीं होता। अत: वह योगज ज्ञान भी लोकप्रत्यक्षवत् प्रमाण माना जाता है। लोक में जिस प्रकार मनुष्य अपने मुख को नहीं देख पाता, परन्तु स्वच्छ दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब के माध्यम से मुख को देखने में समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार ऋषि लोग अपने निर्मल चित्त में परोक्षातिपरोक्ष वस्तुओं को ध्यान लगाकर देखने में, योग्यता प्राप्त करके समर्थ हो जाते हैं। और उनका वह आर्षदर्शन शब्दत: और अर्थत: प्रत्यक्षानुमान से भी बढ़कर दिव्य हुआ करता है ।37।।

यदि यह आशंका की जाय कि इन्द्रियसन्निकर्षादि से प्राप्त प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि के ज्ञान से आर्षज्ञान बाधित हो सकता है, तो इसका समाधान वक्ष्यमाण कारिका करती है, यथा-

**अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।**
**ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।38।।**

अन्वय:- ये महर्षय: अतीन्द्रियान् असंवेद्यान् (पदार्थान् विषयान् वा)

आर्षेण चक्षुषा पश्यन्ति तेषाम् वचनम् अनुमानेन न बाध्यते।।

व्याख्या- (ये) जो महर्षि लोग (अतीन्द्रियान्) चक्षु आदि इन्द्रियों से न देखे जा सकने वाले और (असंवेद्यान्) अन्य साधारण मनुष्यों के द्वारा जो दुर्जेय और अज्ञेय रहा करते हैं, वैसे (भावान्) वस्तुओं को (आर्षेण चक्षुषा पश्यन्ति) तप और योगाभ्यास से प्राप्त सामर्थ्य वाले अन्तर्नेत्र से प्रत्यक्ष रूप में देखा करते है और जानते हैं (तेषाम्) उनका (वचनम्) कथन या उपदेश (अनुमानेन) प्रबल से प्रबल तर्क से भी (न बाध्यते) नहीं बाधित होता, उसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ऋषियों की वाणी निर्दोष और प्रामाणिक होने के कारण प्रमाणान्तरों से खण्डित या तिरस्कृत नहीं की जा सकती।।38।।

उल्लेखनीय है कि आर्षज्ञान की इस विशेषता को महाकवि भवभूति ने भी अपने उत्तररामचरित नामक संस्कृत नाटक में भी एक प्रसंग में इन शब्दों में दर्शाया है-

**आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत्।**
**भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति।।**

अतः आर्षज्ञान की सत्यता पर किसी को कोई सन्देह नहीं होना चाहिए, इसका प्रतिपादन अगली कारिका में ग्रन्थकार करते हैं-

**यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाभिशंकते।**
**स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्।।39।।**

अन्वयः- यः यस्य ज्ञानम् स्वम् दर्शनम् इव न अभिशंकते तम् प्रत्यक्षपक्षे स्थितम् अन्यः कथम् निवर्तयेत्।।

व्याख्या- (यः) जो मनुष्य (यस्य) जिस मनुष्य के (ज्ञानम्) ज्ञान को (स्वम् दर्शनम् इव) अपने ज्ञान के समान मानते हुए (न अभिशंकते) सन्दिग्ध नहीं समझता, प्रत्युत सत्य ही समझता है, अर्थात् जो यह समझता है कि जैसे घट को प्रत्यक्ष करने वाला मेरा घटविषयक ज्ञान सत्य है, वैसा ही दूसरे व्यक्ति का घट के प्रत्यक्ष करने पर घटविषयक ज्ञान सत्य होता है, ऐसा मानता है, (तम्) उसको, जिसने कि वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन किया हुआ है, (अन्यः) स्वयं साक्षात्कार से रहित मनुष्य केवल तर्क द्वारा

(कथम्) कैसे (निवर्तयेत्) अप्रमाणित कर सकता है? अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं।

कहने का तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति ने गुड़ मीठा होता है, इस प्रकार का स्वाद स्वयं गुड़ खाकर अनुभव किया है, वैसा ही दूसरा गुड़ खाने वाला भी कहे कि गुड़ मीठा होता है, उस पर किसी को कोई सन्देह नहीं होता, क्योंकि दोनों व्यक्ति एक ही सत्य के अनुभवी होते है। परन्तु यदि कोई गुड़ के स्वाद के अनुभव से रहित गुड़ के माधुर्य के विषय में सन्देह करे अथवा उसको असत्य बतलावे तो जैसे उसका कथन सत्य नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अतीतानागत सम्बन्धी आर्षज्ञान को भी किसी तर्क से बाधित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।।39।।

इस प्रकार आर्ष वचनों की प्रामाणिकता का निश्चय होने पर उसी के आधार पर धर्म और अधर्म का निर्णय करना चाहिए, अनुमानमात्र से नहीं, इसे वक्ष्यमाण कारिका मे बतलाते हैं–

**इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।**
**आचण्डालं मनुष्याणां समं शास्त्रप्रयोजनम्।।40।।**

अन्वयः– मनुष्याणाम् आचण्डालम् इदम् पुण्यम् इदम् पापम् इति एतस्मिन् पदद्वये अल्पम् शास्त्रप्रयोजनम्।।

व्याख्याः– (मनुष्याणाम्) समस्त मानवों का (आचण्डालम्) चण्डालपर्यन्त निकृष्ट कर्म करने वालों तक (इदं पुण्यम्) यह परोपकारादि भलाई वाला पुण्य या धर्म का कार्य है, और (इदं पापम्) यह परपीडादि रूप दुष्ट, अधर्म का कार्य है, इस (पदद्वये) दो प्रकार की बातों को बतलाने के लिए विधि–निषेधात्मक वचनों में (समम् अल्पम्) बराबर एक समान थोड़ा ही (शास्त्रप्रयोजनम्) श्रृति–स्मृति रूप धर्माधर्म का निर्णय करने वाले शास्त्रों का प्रयोजन, उद्देश्य है। अभिप्राय यह है कि शास्त्र तो नाना प्रकार के धर्माधर्म के विषय में थोड़ा ही संकेत कर पाते हैं, उसके आधार पर उससे अधिक तो प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य को अपनी बुद्धि से ही उचित–अनुचित का विचार कर उचित का ग्रहण और अनुचित का परित्याग करना चाहिए। उल्लेखनीय है कि इस कारिका का मूल पाराशर

व्यास की स्मृति, कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक के श्लोक 2,3 तथा जैमिनि सूत्र 1-1-5 में भी देखा जा सकता है।।40।।

पुनः शास्त्र की प्रबलता, महत्ता और उपयोगिता को दर्शाते हुए कहते हैं-

**चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।**
**आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते।।41।।**

अन्वयः- च यः अयम् आगमः चैतन्यम् इव अविच्छेदेन वर्तते, तम् उपासीनः हेतुवादैर्न बाध्यते।।

व्याख्या- (च) और (यः) जो (अयम्) यह (आगमः) विधि-निषेध और उसके अंगभूत स्तुत्यादि को बतलाने वाले वेदादि सच्छास्त्र हैं, उनको (उपासीनः) अपनी मान्यता अथवा स्वसम्प्रदायानुसारेण आश्रय के लिए सेवन करता हुआ कोई भी मनुष्य (हेतुवादैः) युक्तिवादों अथवा कुतर्कों से (न बाध्यते) खण्डित या अन्यथा नहीं कर सकता। भाव यह है कि जैसे मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार के मनुष्य के अनुभव की सत्यता सदा बनी रहती है, उसी प्रकार वेदादि सत् शास्त्रों की भी विधि-निषेध रूप व्यवस्था की सत्यता सदा बनी रहती है, और उसका कोई भी हेतुवाद से अपलाप नहीं कर सकता।।41।।

सर्वत्र अनुमान से वस्तु-निर्णय के लिए प्रवृत्त होना अनिष्ट फलदायी हो सकता है, इसे अगली कारिका में बतलाते हैं-

**हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।**
**अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः।।42।।**

अन्वयः- विषमे पथि हस्तस्पर्शात् धावता अन्धेन इव विनिपातः अनुमानप्रधानेन दुर्लभः न।।

व्याख्या- (विषमे) ऊँचे-नीचे ऊबड़-खाबड़ (पथि) मार्ग में (हस्तस्पर्शात्) हाथ के स्पर्शमात्र से, हाथ के सहारे से, (धावता) दौड़ने वाले (अन्धेन इव) अन्धे मनुष्य के समान (विनिपातः) गिर पड़ना (अनुमानप्रधानेन) केवल अनुमान से ही परोक्षातिपरोक्ष विषयों का निर्णय करने वाले जन के द्वारा (दुर्लभः न) कठिन या असम्भव नहीं है। तात्पर्य

यह है कि जिस प्रकार कोई अन्धा व्यक्ति केवल हाथ-पैरों के सहारे से दौड़ने का प्रयत्न करने लगे तो उसका जहाँ पर स्पर्श न हो सका हो, वहाँ पर गिर पड़ना निश्चित है, वैसे ही आगम को प्रमाण न मानने वाले किन्तु अनुमान या तर्कमात्र से यथा तथा वस्तु के स्वरूप का निर्णय करने वाले तार्किक का भी तत्त्वार्थाधिगम से च्युत होना निश्चित है। सारांश यह है कि वेद और आर्ष वचनों की प्रामाणिकता का कथमपि अपलाप नहीं करना चाहिए।।42।।

इस प्रकार साधु और असाधु शब्दों के प्रयोग में धर्म और अधर्म का निर्णय व्याकरण से ही करना चाहिए। इसी कारण व्याकरण शास्त्र की रचना की गई है। यथा,

**तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्।**
**आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्।।43।।**

अन्वयः- तस्मात् अकृतकम् शास्त्रम् सनिबन्धनाम् स्मृतिम् च आश्रित्य शिष्टैः शब्दानाम् अनुशासनम् आरभ्यते।।

व्याख्या- (तस्मात्) इस कारण (अकृतकम्) अकृत्रिम अपौरुषेय (शास्त्रम्) ऋग्वेदादि शास्त्र (च) और (सनिबन्धनाम्) सनिमित्तक (स्मृतिम्) साङ्गोपाङ्ग रूप स्मृति को, अनादि परम्परा से शिष्टों द्वारा आचरित साधु अर्थात् शुद्ध शब्दों के प्रयोग रूप स्मृति को (आश्रित्य) आश्रय करके (शिष्टैः) वेदादिशास्त्रज्ञ महर्षियों के द्वारा (शब्दानाम् अनुशासनम्) वैदिक और लौकिक व्यवहार में प्रयोग किए जाने वाले धर्मजनक साधु शब्दों का उपदेश एवं प्रवचन (आरभ्यते) किया जाता रहा है। इनमें नवीन स्वकल्पनाप्रसूत शब्दों की रचना न होकर नित्य परम्परा से प्राप्त शब्दों की व्युत्पत्ति ही व्याकरण शास्त्र द्वारा दर्शायी जाती है। पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के अनुसार वर्ण-समाम्नाय के पूर्व पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रथम सूत्र 'अथ शब्दानुशासनम्' ही है।।43।।

शब्दानुशासन शास्त्र के प्रसंग में अब शब्द के स्वरूप पर विचार करते हुए अगली कारिका में कहा गया है-

**द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।**
**एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥44॥**

अन्वयः- शब्दविदः उपादानशब्देषु द्वौ शब्दौ विदुः(तत्र) शब्दानाम् एकः निमित्तम् अपरः अर्थे प्रयुज्यते॥

व्याख्या- (शब्दविदः) शब्दशास्त्र और शब्दतत्त्व को जानने वाले (उपादानशब्देषु) उपादान अर्थात् अर्थरूप प्रयोजन को दर्शाने के लिए जो शब्द वक्ता द्वारा बोले जाते हैं, उनमें (द्वौ शब्दौ) शब्द दो प्रकार का है। उपादान शब्दों के मध्य में जो उनका बाह्य रूप है, अर्थात् वर्णसमुदाय रूप वाचक अंश है, वह (एकः शब्दानाम् निमित्तम्) एक शब्दोच्चारणजन्य वैखरी रूप, ध्वन्यात्मक अंश कारण रूप या प्रकाशक रूप है और (अपरः) दूसरा शब्द की अन्तरात्मा रूप अंश है, वह (अर्थे प्रयुज्यते) शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वैयाकरणों ने इस शब्द के वाच्य अर्थ रूप अंश को मध्यमा वाक् और स्फोट नाम से अभिहित किया है। 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट, शब्द का वह वास्तविक और नित्य स्वरूप है, जो उस शब्द के अर्थ को प्रकाशित करता है॥44॥

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए यह कारिका है-

**आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।**
**बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥45॥**

अन्वयः- तयोः आत्मभेदः अस्ति इति केचित् पुराणगा आहुः। एके अभिन्नस्य बुद्धिभेदाद् भेदम् प्रचक्षते॥

व्याख्या- (तयोः) उन दो प्रकार के शब्दों का - वैखरीरूप तथा मध्यमारूप का, अथवा ध्वनिरूप और स्फोट रूप का (आत्मभेदः) स्वरूपतः भेद है। अर्थात् ध्वनि या वैखरीवाक् कार्यरूप शब्द पृथक् है (इति) ऐसा (केचित्) कुछ (पुराणगाः) पुराने आचार्य (आहुः) कहते हैं। (एके) कुछ अन्य पूर्वाचार्यों का मत है कि (अभिन्नस्य) शब्द का तत्त्वतः एक ही रूप है, दो प्रकार के कार्यकारण रूप शब्दों की जो बात कही गई है, वह वास्तव में एक ही है। किन्तु (बुद्धिभेदात्) बुद्धि से केवल

अर्थ का और कान से केवल शब्द का ग्रहण होने से, अथवा यों कहा जाय कि वक्ता और श्रोता की बुद्धि तो शब्द के साथ उसके अर्थ को भी समझ सकती है। किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय शब्द के केवल बाह्य रूप ध्वनि को ही ग्रहण कर पाती है। इस कारण उन दो रूपों में (भेदम्) परस्पर कुछ भिन्नता है, ऐसा (प्रचक्षते) कहा जाता है।।45।।

वैखरी और स्फोट की तात्त्विक दृष्टि से अभिन्नता होते हुए भी उन दोनों में प्रकाश्यप्रकाशकता रूप कार्यकारणभाव को दृष्टान्त से दर्शाते हैं-

**अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।**
**तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्।।46।।**

अन्वयः- यथा अरणिस्थम् ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् तद्वद् बुद्धिस्थः शब्दः अपि पृथक् श्रुतीनाम् कारणम्।।

व्याख्या- (यथा) जिस प्रकार (अरणिस्थम्) शमीकाष्ठनिर्मित अरणियों में विद्यमान (ज्योतिः) अग्नि (प्रकाशान्तरकारणम्) गार्हपत्यादि यज्ञकुण्डों में आहित की जाने वाली अग्नियों का मूल उपादान कारण है (तद्वत्) उसी प्रकार (बुद्धिस्थः शब्दः) बुद्धि में रहने वाला स्फोट रूप अथवा मध्यमा रूप शब्द (अपि) भी (पृथक्) प्रयत्न से उद्बुद्ध होने पर विभिन्न प्रकार के अ, आ, इ, उ, क, ख, ग, घ, इत्यादि वर्णसमुदाय रूप पद एवं वाक्यों की जो भिन्न-भिन्न उच्चारण क्रियायें एवं भिन्न-भिन्न कर्णगोचर धवनियाँ हैं, उन (श्रुतीनाम्) ध्वनियों का (कारणम्) मूल बीज हैं। सारांश यह है कि वक्ता के प्रयत्न से विवृद्ध हुआ बुद्धिस्थ स्फोटात्मक शब्द कत्व-गत्वादि वर्णों से अभिव्यञ्जित ध्वनियों के धर्म में रंगा हुआ होकर श्रोता के कर्णगोचर हुआ करता है और सुनाई देते ही उसके बुद्धिस्थ स्फोट को अभिव्यञ्जित करता है, जिससे सुनने वाले को तत्तत् शब्दार्थ और वाक्यार्थ का बोध होने लगता है।।46।।

अब इस पर विचार करते हैं कि घट शब्द के उच्चारण करने पर 'पट' अर्थ का बोध क्यों नहीं होता जब कि स्फोट रूप में सब शब्दों में और अर्थों में अभिन्नता है।

**वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।**
**करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥47॥**

अन्वयः- सः पुरा बुद्ध्या वितर्कितः क्वचिद् अर्थे निवेशितः करणेभ्यः (कारणेभ्यः इति पाठान्तरम्) विवृत्तेन ध्वनिना अनुगृह्यते॥

व्याख्या- (सः) वह शब्द (पुरा) पहले (बुद्ध्या) बुद्धि से (वितर्कितः) विचार किया गया, जैसे कि घटशब्द से कम्बुग्रीवादिमान् अर्थ वाली वस्तु का बोध होता है, अन्य पट, इत्यादि किसी से नहीं, इस रीति से ऊहित किया गया शब्द (क्वचिदर्थे) अर्थविशेष में (निवेशितः) प्रयुक्त होता है और (करणेभ्यः) ताल्वादि स्थानों एवं जिह्वादि करणों से (विवृत्तः) निष्पन्न (ध्वनिना) ध्वनि से (अनुगृह्यते) उपकृत किया जाता है।

तात्पर्य है कि किसी शब्द का अर्थविशेष में प्रयोग करने का विचार पहले वक्ता के मन-बुद्धि में उत्पन्न होता है, अनन्तर उसको प्रकट करने के लिए मुख के भीतर ताल्वादि स्थानों और नादानुप्रदानादि करणों से प्रयत्न द्वारा जो शब्द उच्चरित होता है और सुनाई देता है, वह उसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है जो वक्ता के मन में उच्चारण से पूर्व ऊहित अथवा संकेतित अर्थ का परिज्ञान होता है। वक्ता के समान श्रोता को भी अभीष्ट अर्थ का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार घट शब्द से केवल घट अर्थ का घटात्मक ज्ञान होता है, अन्य अर्थ का नहीं॥47॥

क्यों यदि ऐसा है तो स्फोट भी एक अखण्ड न होकर नाना अर्थों के समान नाना प्रकार का हो जायेगा? इस प्रशन का समाधान आगे के श्लोक में करते हैं-

**नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः।**
**अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥48॥**

अन्वयः- नादस्य क्रमजन्मत्वात् (सः) न पूर्वः न च परः। अक्रमः क्रमरूपेण भेदवान् इव जायते॥

व्याख्या- (नादस्य) अकेले ध्वनि के ही (क्रमजन्मत्वात्) क्रमशः एक एक वर्ण के पश्चात् दूसरे-दूसरे वर्ण के पैदा होने से (सः) वह स्फोट,

नाद ध्वनि के समान (न पूर्वः न च परः) न तो पहले वाला और न बाद वाला, इस प्रकार के व्यपदेश को प्राप्त हुआ करता है। वस्तुतः पौर्वापर्य के व्यवहार से रहित होने के कारण स्फोट (अक्रमः) सर्वथा क्रमशून्य, एकरूप रहा करता है, किन्तु (क्रमरूपेण) व्यञ्जक नाद या ध्वनि के क्रमत्वादि धर्म को पाकर (भेदवानिव) भेदवाला जैसा या क्रम वाला जैसा (जायते) हो जाया करता है, अथवा 'ग्रह्यते' इस पाठ के अनुसार पृथक् पृथक् वर्ण वाला ग्रहण किया जाता है। वस्तुत 'स्फोट एकरूप ही है और इस प्रकार स्फोट और नाद भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं, यह कारिका का आशय है।।48।।

इसी को दृष्टान्त से दृढ करते हुए कहा गया है-

**प्रतिबिम्बं यथाऽन्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।**
**तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः।।49।।**

अन्वयः- यथा अन्यत्र स्थितं प्रतिबिम्बम् तोयक्रियावशात् तत्प्रतिबिम्बमिव अन्वेति स्फोटनादयोः स धर्मः।।

व्याख्या- (यथा) जैसे (अन्यत्र) जल, दर्पण, आदि में (स्थितम्) दिखाई देने वाली (प्रतिबिम्बम्) किसी आकृति वाली वस्तु की परछाई (तोयक्रियावशात्) पानी या दर्पण, आदि के हिलने से (तत्प्रवृत्तिम् इव) उसी के अनुरूप हिलती-डुलती दिखाई देती है, (स्फोटनादयोः) स्फोट और नाद-ध्वनि की भी (सः धर्मः) वही स्थिति है। आशय यह है कि जैसे प्रतिबिम्ब किसी स्थिर (बिम्ब) वस्तु का स्वच्छ तालाब आदि में पड़ने पर स्थिर ही रहता है, वह स्वयं हिलता नहीं है। किन्तु तालाब का पानी यदि वायु से या अन्य निमित्त से हिल रहा हो तो प्रतिबिम्ब भी हिलता दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार शब्द के उच्चारण काल में वर्णों के उच्चारण में पौर्वापर्य का क्रम जो नाद रूप है, वह क्रम शब्द की आत्मा स्फोट में भी प्रतिभासित हो जाता है, जब कि स्फोट स्वयं क्रमशून्य अखण्ड एकरस है। पातञ्जल महाभाष्य में भी कहा गया है कि वर्णों के उच्चारण में स्फोट तो उतना ही रहता है, किन्तु ध्वनियों की वृद्धि होती है। ध्वनि और स्फोट के मध्य में केवल ध्वनि ही लक्षित होती

है, स्फोट अव्यक्त रहता है (द्रष्टव्य-महाभाष्य 1-1-70)।।49।।

शब्द से शब्दजन्य अर्थ का बोध तो होता ही है, शब्द का स्वरूप भी भासित होता है। इसका प्रतिपादन करते हैं-

**आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।**
**अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते।।50।।**

अन्वयः- यथा ज्ञाने आत्मरूपम् ज्ञेयरूपम् च दृश्यते तथा शब्दे स्वरूपम् च अर्थरूपम् प्रकाशते।।

व्याख्या- (यथा) जिस प्रकार (ज्ञाने) विषयभूत वस्तु के ज्ञानकाल में (न्यायशास्त्र के अनुसार अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में और भाट्टमतानुसार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान सामान्य में) (आत्मरूपम्) ज्ञाता का अपना स्वरूप (ज्ञेयरूपम् च) और जानने योग्य आत्मभिन्न वस्तुमात्र 'अयं घटः', 'अयं पटः' इत्यादि को देखकर (दृश्यते) ज्ञान होता है। तथा उसी प्रकार (शब्दे) जैसे 'गौः' इस शब्द के उच्चारण में (स्वरूपम्) गकार, औकार और विसर्जनीय का जो उच्चारण ध्वनि रूप है (च) और (अर्थरूपम्) गौः शब्द का अर्थ जो सास्ना, लांगूल, ककुद, खुर, सींग रूप समन्वित एक अर्थ है, वे दोनों ही (प्रकाशते) प्रकाशित होते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार कहीं शब्द विशेषण होता है तो कहीं अर्थ विशेष्य और कहीं शब्द विशेष्य होता है तो कहीं अर्थ विशेषण। जैसे 'गामानय' इस वाक्य में गाम् शब्द विशेषण रूप है, तथा गौ का लाना रूप अर्थ विशेष्य है। परन्तु व्याकरण शास्त्र में तो जैसे 'सास्य देवता' इस अर्थ में 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र के अनुसार बनने वाले शब्द 'अग्निर्देवता अस्य' (अग्नि+ढक्) 'आग्नेयं सूक्तम्' इस व्युत्पत्ति में अग्नि शब्द और ढक् प्रत्यय के योग से निष्पन्न आग्नेय शब्द में अर्थ विशेष्य न होकर शब्द ही विशेष्य है, क्योंकि अग्नि का अर्थ जो अंगारे हैं, उनसे ढक्प्रत्यय नहीं किया जा सकता और अग्निदेवता वाले सूक्त को आग्नेय सूक्त कहा जाता है।।50।।

स्फोट और नाद के भेद को प्रकारान्तर से दर्शाते हुए कहते हैं-

**आण्डभावमिवापन्नः यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।**
**वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भजते भागशः क्रमम्॥51॥**

अन्वयः- यः शब्दसंज्ञकः क्रतुः आण्डभावम् इव आपन्नः तस्य क्रियारूपा वृत्तिःभागशः क्रमम् भजते॥

व्याख्या- (यः) जो (शब्दसंज्ञकः) शब्द है संज्ञा नाम जिसका वह (क्रतुः) शब्दब्रह्म (आण्डभावम् आपन्नः) अण्डे के सदृश अस्पष्ट अन्तरवयव वाला रहता है। अर्थात् जैसे पक्षी का अण्डा पहले गोलाकार दिखाई देता है, उस से कुछ समय बाद हाथ, पैर, शिर, धाड़, आदि पक्षी के अंग निकल आते हैं, लगभग वही स्थिति हृदयस्थ स्फोटरूप शब्दब्रह्म की भी होती है, जिसमें अव्यक्त रूप से वर्ण अन्तर्निहित रहते हैं। (तस्य) उसकी (क्रियारूपा वृत्तिः) उच्चारण करते समय नादरूप में वर्णों को व्यक्त करने वाली क्रियारूप वृत्ति (भागशः) पृथक्-पृथक् (क्रमम्) क्रम को, पूर्वापर भाव को (भज़ते) प्राप्त होती है। 'लभते' के स्थान में 'भजते' यह पाठान्तर भी है, परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

कहने का आशय यह है कि अण्डे का दृष्टान्त तो केवल स्फोट को समझाने के लिए दिया गया है। जैसे पक्षी के अण्डे में हाथ, पैर, आदि शरीरावयव पहले नहीं दिखाई देते, अव्यक्त रहते हैं और वे सब एकाकार रहते हैं, वैसा ही हृदयस्थ शब्दब्रह्म- स्फोट भी है, जो अवयवविभागरहित है। अण्डे के उद्भिन्न होने पर जैसे पक्षी के विभिन्न अंग स्पष्ट दिखाई देते हैं, उसी प्रकार वक्ता जब कुछ कहना चाहता है तो नाभि से प्रेरित वायु के कण्ठताल्वादि स्थानों में आघात से क्रमानुसार नाद (ध्वनि) रूप में वर्ण स्पष्ट रूप से व्यक्त होने लगते हैं, जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है-

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया,
मनः कायाग्निम् आहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥' इत्यादि।

परन्तु यहाँ दृष्टान्त में इतना अन्तर जानने योग्य है कि अण्डा तो अनित्य है, परन्तु दार्ष्टान्त (अखण्डस्फोटाख्य शब्दब्रह्म) नित्य है॥51॥

**शब्द भी शब्द से ग्रहण किया जाता है, इस पर कहते हैं-**

**यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।**
**मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते।।52।।**

अन्वयः- यथा मूर्त्यन्तरस्य मूर्तिः पटे एकबुद्धिविषया आक्रियते एवम् शब्दे अपि त्रितयं दृश्यते।।

व्याख्याः- (यथा) जैसे (मूर्त्यन्तरस्य) किसी पुरुष की (मूर्तिः) चित्र (पटे) कपड़े, कागज, दीवार, आदि में (एकबुद्धिविषया) एक ज्ञान से ग्रहण करने योग्य (आक्रियते) निर्मित की जाती है (एवम्) इसी प्रकार (शब्दे अपि) शब्द में भी देखा जाता है।

आशय यह है कि जैसे कि किसी चित्र वाली वस्तु वस्त्र, इत्यादि में तीन वस्तुयें एक साथ बुद्धिगम्य होती हैं वस्त्र, वस्त्र पर बनाया गया चित्र तथा वह वस्तु जिसका चित्र बनाया गया है, उसी प्रकार गौः, इस शब्द में भी जब वैखरी वाक् से गकार, औकार और विसर्ग का क्रमिक उच्चारण होने पर शब्द सावयव सा जाना जाता है, वही शब्द जब बुद्धिस्थ होता है तो उसमें न तो गकारादि वर्ण पृथक् सुनाई देते हैं और न उनमें जो अवयव तथा क्रम हुआ करता है, वही रहता है। इस प्रकार अन्तःकरण में अवयवशून्य तथा क्रमशून्य स्फोट का ज्ञान होता है और अवस्थाओं के भेद से एक ही शब्द ग्राह्य और ग्राहक हुआ करता है।।52।।

जैसे बोलने वाले के मन में शब्दों से जो भाव व्यक्त करने का विचार होता है, वैसे ही उसकी बात सुनने वाले के मन में भी उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर भाषा शब्दों का पारस्परिक कथन और श्रवण हुआ करता है। इस सम्बन्ध में यह कारिका है-

**यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।**
**व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते ।।53।।**

अन्वयः- यथा प्रयोक्तुः प्राक् शब्देषु एव बुद्धिः प्रवर्तते एवम् ग्रहीतृणाम् तेषु एव व्यवसायः जायते।।

व्याख्या- (यथा) जिस प्रकार (प्रयोक्तुः) शब्दों का प्रयोग करने वाले वक्ता की (प्राक्) पहले (शब्देषु एव) शब्दों में ही अर्थात् शब्दविषयक ही (बुद्धिः) ज्ञान (प्रवर्तते) पैदा होता है। जिस शब्द का जिस वर्ण के

साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है, उसके उच्चारण करने पर वही अर्थ जाना जाता है। इस कारण अर्थ को बतलाने की इच्छा से पहले शब्द-शब्दार्थ का ज्ञान होना अपेक्षित होता है, तदनन्तर शब्द का उच्चारण किया जाता है। (एवम्) इसी प्रकार (ग्रहीतृणाम्) शब्द और शब्दार्थ को जानने और सुनने वालों का (तेषु एव) उन्हीं शब्दों में (व्यवसायः) शब्दार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान (जायते) हुआ करता है। आशय यह है कि शब्द के अधीन ही अर्थबोध होता है। अतः उच्चारण करने वाले और सुनने वाले दोनों की शब्दभावना की प्रबलता से शब्दविशेष से गम्यमान अर्थविशेष का ज्ञान होता है।।53।।

कभी-कभी वक्ता के द्वारा किसी शब्द से विशिष्ट अर्थ का ग्रहण होने से लोगों के द्वारा उसका संज्ञान न होने का क्या कारण है? इस पर कहते हैं-

**अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित्।**
**चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते।।54।।**

अन्वयः- केषुचित् अभिधेयेषु अर्थोपसर्जनीभूतान् चरितार्थान् लोकः परार्थत्वात् न प्रतिपद्यते।।

व्याख्या- (केषुचित् अभिधेयेषु) वक्ता के द्वारा किन्हीं अर्थों की विवक्षा में (अर्थोपसर्जनीभूतान्) जब लोकप्रचलित अर्थ गौण हो जाते हैं, और वक्ता के शब्दों का अभीप्सित अर्थ कुछ भिन्न होता है तो उस दशा में (चरितार्थान्) प्रचलित प्रसिद्ध शब्दार्थों को (परार्थत्वात्) दूसरा या विशेष अर्थ होने से श्रोता (न प्रतिपद्यते) नहीं जानता है। अर्थात् श्रोता और अध्येता सामान्यतः वाच्यार्थों को ही ग्रहण किया करते हैं। वेदादि शास्त्रों में अथवा कवियों की कृतियों में कदाचित् लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त आलङ्कारिक अर्थ भी प्रदर्शित रहता है। अध्येता उनका विशेष अध्ययन करने पर ही संज्ञान कर पाता है। अन्यथा वाच्यार्थों की छत्रछाया में उन्हें जानना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार सामान्य अर्थ के ज्ञान के समय विशेषार्थ का ग्रहण तथा विशेषार्थ के ज्ञान के समय सामान्य अर्थ का ग्रहण नहीं हुआ करता।।54।।

शब्द में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दो प्रकार की शक्तियाँ तेज (प्रकाश) की भाँति हुआ करती हैं, इसको दर्शाने वाली यह कारिका है-

**ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।**
**तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते॥55॥**

अन्वयः- यथा तेजसः ग्राह्यत्वम् च ग्राहकत्वम् द्वे शक्ती तथा एव एते सर्वशब्दानम् पृथग् अवस्थिते॥

व्याख्या- (यथा) जैसे (तेजसः) प्रकाश की (ग्राह्यत्वम्) ग्रहण किये गये जानने योग्य गौः, घटः, इत्यादि में (च) और (ग्राहकत्वम्) चक्षु आदि इन्द्रियों में रहने वाली दृश्य साकार वस्तुओं के रूपों को दर्शाने की (द्वे शक्ती) दो प्रकार की शक्तियाँ हुआ करती हैं। (तथा एव) उसी प्रकार (एते) ये दो प्रकार की शक्तियाँ (सर्वशब्दानाम्) सब शब्दों की (पृथक् अवस्थिते) भिन्न-भिन्न रूप में अवस्थित रहती हैं। अर्थात् 'गौः' या 'घटः' इत्यादि शब्द जब अपने-अपने अर्थ को ग्रहण करते या प्रकट करते हैं, तब उनमें ग्राहकता रहती है, और जब वे अपने-अपने रूप को प्रकाशित करते हैं, तब उनमें ग्राह्यता रहती है। यही दो प्रकार की शक्तियाँ शब्द के सन्दर्भ में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्तियाँ कहलाती हैं।

'पृथगिव स्थिते' इस प्रकार के पाठान्तर के अनुसार अर्थ होगा कि शब्दों में ग्राह्यता और ग्राहकता का अन्तर उच्चारण काल (वैखरी वाक्) के रूप में सम्भव है। नित्य कारण रूप (स्फोट) में तो ये दोनों शक्तियाँ अभिन्न रूप में एकाकार रहती हैं॥55॥

उक्त दो प्रकार की शक्तियों के समर्थन में पुनः कहते हैं-

**विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।**
**न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥56॥**

अन्वयः- विषयत्वम् अनापन्नैः शब्दैः अर्थः न प्रकाश्यते। अगृहीताः सत्तया एव अर्थानाम् प्रकाशकाः न॥

व्याख्या- (विषयत्वम् अनापन्नैः) बोधविषयता को जो नहीं प्राप्त हुए हैं, वैसे (शब्दैः) शब्दों के द्वारा (अर्थः) सम्बन्धित अर्थ (न प्रकाश्यते) नहीं जाना जाता है। क्योंकि (अगृहीताः) अज्ञात अर्थ वाले शब्द (सत्तया

एव) अपने अस्तित्व मात्र से (अर्थानाम् प्रकाशकाः न) अर्थों के बोधक या उपस्थापक नहीं हुआ करते हैं। भाव यह है कि मन में रहने वाले शब्दों की सत्ता तो होती है किन्तु जब तक उनका उच्चारण न किया जाये और उच्चारित शब्दों का भी वक्ता और श्रोता दोनों को अर्थज्ञान न हो, वे स्वरूपतः और अर्थतः अज्ञात ही रहते हैं। 'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैः' कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि शब्दों से यह भी ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञापक शब्द इन तीनों के होते हुए ही वक्ता और श्रोता को ज्ञातार्थ शब्द से किसी विषय (अर्थ) से युक्त शब्द का ज्ञान हुआ करता है। निर्विषयक, निरर्थक शब्द से कोई अर्थ नहीं जाना जा सकता।।56।।

शब्द बोधविषयक होता है, चक्षु आदि इन्द्रिय नहीं, इसको दर्शाते हैं-

**अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते।**
**नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा।।57।।**

अन्वयः- अतः अनिर्ज्ञातरूपत्वात् किम् आह इति अभिधीयते। तथा इन्द्रियाणाम् स्वरूपम् प्रकाश्ये अर्थे न गृह्यते।।

व्याख्या- (अतः) इस कारण से, शब्दों के वक्ता के द्वारा बोले जाने पर उससे (अनिर्ज्ञातरूपत्वात्) शब्द के स्वरूप और अर्थ का ज्ञान न होने पर श्रोता द्वारा 'आप क्या कह रहे हैं?' (इति अभिधीयते) ऐसा पूछा जाता है। (तथा) वैसे (इन्द्रियाणाम्) चक्षु, आदि ज्ञानेन्द्रियों का (स्वरूपम्) अपना रूप (प्रकाश्ये अर्थे) बोध्य घट, पट, इत्यादि के विषय में (न गृह्यते) नहीं जाना जाता है। जैसे कि रूपवान् वस्तु के दर्शनकाल में चक्षु इन्द्रिय का ज्ञान नहीं होता, किन्तु शब्द के सुनने पर तो अर्थज्ञान होने पर उस शब्द के अर्थ के साथ-साथ शब्द के स्वरूप का भी ज्ञान वक्ता और श्रोता दोनों को हुआ करता है। अन्यथा अज्ञातार्थ शब्द के सुनाई देने पर श्रोता के द्वारा वक्ता को यह पूछना स्वाभाविक है कि 'आप क्या कह रहे हैं? समझाइए'।।57।।

शब्दार्थ के भेदपक्ष में, कार्य-कारण भाव में विरोध को दर्शा रहे हैं-

**भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ।**
**भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः।।58।।**

अन्वय:- भेदेन अवगृहीतौ अपोद्धृतौ द्वौ शब्दधर्मौ भेदकार्येषु हेतुत्वम् अविरोधेन गच्छत:।।

व्याख्या- (भेदेन) भिन्न रूप में (अवगृहीतौ) ज्ञात (अपोद्धृतौ) बुद्धि में स्फोट रूप में अभिन्न होते हुये भी व्यवहारकाल में शब्द और अर्थ में भेद की कल्पना करने पर उनमें शब्द को कारण और अर्थ को उसका कार्य, प्रकाश्य-प्रकाशता से स्वीकार करने में विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए। अत: (द्वौ शब्दधर्मौ) शब्द और शब्द के अर्थ रूप दोनों भाव (भेदकार्येषु) दोनों से भिन्न-भिन्न प्रकार से लिए जाने वाले कार्यों में (हेतुत्वम्) कार्यकारणता को (अविरोधेन) विना विरोध के (गच्छत:) जाने जाते हैं।।58।।

अब 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि पाणिनीय सूत्र के उदाहरण से व्याकरण शास्त्र में संज्ञासंज्ञि के भेद और उनके सम्बन्ध को दर्शाते हैं'।

**वृद्ध्यादयो यथा शब्दा: स्वरूपोपनिबन्धना:।**
**आदैच्प्रत्यायितै: शब्दै: सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभि:।। 59।।**

अन्वय:- यथा स्वरूपोपनिबन्धना: वृद्ध्यादय: शब्दा: आदैच्प्रत्यायितै: संज्ञिभि: शब्दै: संबन्धं यान्ति।

व्याख्या- (यथा) जैसे (स्वरूपोपनिबन्धना:) स्वरूपों के बोधक (वृद्ध्यादय: शब्दा:) वृद्धि, गुण, इत्यादि पाणिनीय अष्टाध्यायी में कल्पित एवं पठित शब्द (आदैच्प्रत्यायितै: संज्ञिभि: शब्दै:) 'वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुण:' (अ०1-1-1,2) इत्यादि सूत्रों से वृद्धि संज्ञा वाले आ, ऐ, औ तथा गुणसंज्ञा वाले अ, ए, ओ वर्णों के साथ (सम्बन्धं यान्ति) संज्ञा-संज्ञि संबन्ध को प्राप्त होते हैं।

इन सूत्रों में उद्दिष्ट आदैच् की वृद्धि संज्ञा और अदेङ् की गुण संज्ञा का विधान विशेष प्रयोजन की सिद्धि (जो कि व्याकरण शास्त्र को लाघव से सुगमता से जानना है) के लिए किया गया है। व्याकरण शास्त्र के बाहर वृद्धि, गुण, आदि शब्दों के अन्य भी अर्थ प्रचलित हैं, जिनका उक्त पारिभाषिक संज्ञाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अत: वृद्धिरादैच्, आदि में उक्त संज्ञा-संज्ञिभाव व्याकरण में ही अभीष्ट है, अन्यत्र नहीं। इस विषय

में महर्षि पतञ्जलि का यह वाक्य ध्यान देने योग्य है- 'द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थयोर्लोके विशेष्यविशेषणभावो भवति, न चादैच् शब्द:प्रतीतपदार्थक:। तस्मात् संज्ञासंज्ञिनौ एव।' (महाभाष्यम्, 1-1-1)।।59।।

दृष्टान्त को बतलाकर अब दार्ष्टान्त को कहते हैं-

**अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः।**
**अग्निश्रुत्येति संबन्धमग्निशब्दाभिधेयया।।60।।**

अन्वयः- तथा एव अयम् अग्निशब्दः अग्निशब्दनिबन्धनः अग्निशब्दाभिधेयया अग्निश्रुत्या संबन्धम् याति।

व्याख्या- (तथा एव) उसी प्रकार (अयम्) 'अग्नेर्ढक्' (अ04-2-33) सूत्र में पठित यह (अग्निशब्दः) अग्नि शब्द (अग्निशब्दनिबन्धनः) अग्निशब्द का बोधक (अग्निशब्दाभिधेयया अग्निश्रुत्या) 'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (अ01-1-68) इस परिभाषा के अनुसार है। व्याकरण शास्त्र में शब्दसंज्ञा को छोड़कर अन्यत्र किसी कार्य को करने के लिए शब्द का स्वरूप ही ग्रहण किया जाता है। तदनुसार 'अग्नेर्ढक्' सूत्र में पठित अग्निशब्द से केवल अग्निशब्द का ही ग्रहण होता है, उसके अर्थ अंगारे का नहीं, (फलतः) अग्नि+ढक् = आग्नेयः यह शब्द निष्पन्न होता है। अतः वही (संबन्धम् एति) संबन्ध रहता है, वाच्यवाचक संबन्ध नहीं।।60।।

प्रश्न होता है कि उच्चारित शब्द निश्चित रूप से कार्यान्वयी क्यों नहीं होता? वाक्यपदीयकार उत्तर देते हैं,

**यो य उच्चार्यते शब्दो नियतं न स कार्यभाक्।**
**अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते।।61।।**

अन्वयः- यः यः शब्दः उच्चार्यते स नियतम् कार्यभाक् न। तस्य अन्यप्रत्यायने शक्तिः न प्रतिबध्यते।।

व्याख्या- (यःयः शब्दः) जो जो शब्द (उच्चार्यते) उच्चारण किया जाता है, (सः) वह (नियतम्) निश्चित रूप से (कार्यभाक्) अपने वाच्य अर्थ के अनुसार ही कार्य करे, यह आवश्यक (न) नहीं है। (तस्य)

उसकी (अन्यप्रत्यायने शक्तिः) दूसरे अर्थ को बतलाने में शक्ति-सामर्थ्य (न प्रतिबध्यते) क्षीण नहीं हुआ करती।।61।।

कार्यान्वयन के अभाव में कारण बतलाते हुए कहते है-

**उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यैर्न युज्यते।**
**तस्मात् तदर्थैः कार्याणां सम्बन्धः परिकल्प्यते।। 62।।**

अन्वयः- गुणः उच्चरन् परतन्त्रत्वात् कार्यैः न युज्यते। तस्मात् तदर्थैः कार्याणाम् सम्बन्धः परिकल्प्यते।।

व्याख्या- (गुणः) गुणीभूत या विशेषणीभूत शब्द (उच्चरन्) उच्चारित होता हुआ (परतन्त्रत्वात्) शब्द के स्वरूपमात्र का ग्राहक होने से (कार्यैः) कार्यों से संयुक्त नहीं होता। जैसे कि 'अग्नेर्ढक्' सूत्र में अग्निशब्द गौण होने के कारण अग्नि के अर्थ अंगारों से नहीं जुड़ा करता, क्योंकि अर्थ में कार्य यहाँ सम्भव नहीं होता, व्याकरणशास्त्र में तो अग्नि शब्द के स्वरूपमात्र का ग्रहण होता है। (तस्मात्) इस कारण (तदर्थैः) शब्द के अर्थ के साथ ही अन्यत्र कार्याणाम् सम्बन्धः परिकल्प्यते। कार्यों का अन्वयसम्बन्ध माना जाता है, तभी कार्य हुआ करते हैं। जैसे कि 'गाय को लाओ', 'दही खाओ' इन उदाहरणों में लाने योग्य जो गाय है, वही लायी जाती है और खाने योग्य जो दही है, वही खाया जाता है। महाभाष्य में स्पष्ट कहा है- 'शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते। 'गामानय, दध्यशान' इति अर्थः आनीयते अर्थश्च भुज्यते। अर्थस्यासम्भवात्। इह व्याकरणे अर्थे कार्यस्यासम्भवः। अग्नेर्ढक् इति न शक्यते अंगारेभ्यः परः ढक् कर्तुम्। (महाभाष्यम्, 4-2-33)।।62।।

अब उपमान और उपमेय में सामान्य और विशेष धर्मों की अवस्थिति को दर्शाते हैं।

**सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमानोपमेययोः।**
**तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते।।63।।**

अन्वयः- उपमानोपमेययोः यत् यत् सामान्यम् आश्रितम् तस्य तस्य उपमानेजु अन्यः धर्मः व्यतिरिच्यते।।

व्याख्या- (उपमानोपमेययोः) उपमान और उपमेय में (यत् यत्) जो

जो (सामान्यम्) सामान्य धर्म (आश्रितम्) रहा करता है (तस्य तस्य) उस उस सामान्य धर्म का (उपमानेषु) उपमानों में (अन्यः धर्मः) विशेष धर्म (व्यतिरिच्यते) सामान्य से अतिरिक्त हुआ करता है।।63।।

प्रकृष्टता का हेतु ही विशेष धर्म होता है, इसको दर्शाते हैं-

**गुणः प्रकर्षहेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते।**
**तस्याश्रिताद् गुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते।।64।।**

अन्वयः- प्रकर्षहेतुः यः गुणः स्वातन्त्र्येण उपदिश्यते। तस्य आश्रितात् गुणात् एव प्रकृष्टत्वम् प्रतीयते।।

व्याख्या- (प्रकर्षहेतुः) प्रकर्ष का कारण (यः गुणः) जो गुण (स्वातन्त्र्येण) स्वतन्त्रता से (उपदिश्यते) वर्णन किया जाता है (तस्य) उस द्रव्य या उपमान के (आश्रितात् गुणात् एव) आश्रय पर रहने वाले गुण से ही (प्रकृष्टत्वम्) द्रव्य या उपमान में गुण-प्रकर्षता और उसकी सदृशता से उपमेय में भी प्रकर्षता (प्रतीयते) जानी जाती है।।64।।

अब शब्द के स्वरूप और भिन्नता को बतलाते हैं।

**तस्याभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः।**
**तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत् तस्माद् विविच्यते।।65।।**

अन्वयः- तस्य अभिधेयभावेन समवस्थितः यः शब्दः तस्य उच्चारणे अपि तस्माद् अन्यत् रूपम् विविच्यते।।

व्याख्या- (तस्य) उस शब्द के (अभिधेयभावेन) वाच्यता के रूप में (समवस्थितः) बुद्धि में स्थित (यः शब्दः) जो शब्द का स्वरूप है (तस्य उच्चारणे अपि उसके उच्चारण में भी (तस्मात्) उससे (अन्यत् रूपम्) भिन्न रूप (विविच्यते) जाना जाता है। आशय यह है कि मन या बुद्धि में विद्यमान किसी भी शब्द के साथ उसके अर्थ की भावना, शब्द और अर्थ दोनों का रूप अव्यक्त अवस्था में मिला हुआ रहता है। किन्तु जब शब्द का उच्चारण किया जाता है, तब केवल प्रथमतः ध्वनि रूप ही कर्णगोचर हुआ करता है, और अर्थ का ज्ञान ज्ञातार्थ श्रोता को ध्वनि सुनाई देने के बाद होता है।।65।।

कोई भी संज्ञा अपने संज्ञी से पहले स्वरूपमात्र की बोधक होती है

इस विषय में कहते हैं-

**प्राक्संज्ञिनाऽभिसम्बन्धात् संज्ञारूपपदार्थिका।**
**षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते॥66॥**

अन्वय:- संज्ञिना अभिसम्बन्धात् प्राक् संज्ञा रूपपदार्थिका षष्ठ्या: च प्रथमाया: च निमित्तत्वाय कल्पते॥

व्याख्या- (संज्ञिना) वह वस्तु या अर्थ जिसकी कोई संज्ञा करी जाती है, उसे संज्ञी कहते हैं, उससे (अभिसम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से (प्राक्) पहले (संज्ञा) उसकी संज्ञा का जो शब्द है, वह (रूपदर्शिका) केवल अपने स्वरूपमात्र को शब्दरूप में दर्शाती है, जैसे कि कहा गया है 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (अ01-1-68)। और जब वह अपने संज्ञी (वाच्य अर्थ) से जुड़ जाती है, तब (षष्ठ्या: च) षष्ठी विभक्ति से या (प्रथमाया: च) प्रथमा विभक्ति से (निमित्तत्वाय) जुड़ने का कारण बनने के लिए (कल्पते) समर्थ होती है।

अभिप्राय यह है कि जैसे 'वृद्धिरादैच्' (अ01-1-1) इस सूत्र में आदैच् (आ, ऐ, औ) वर्णों की वृद्धिसंज्ञा की गई है। यहाँ पर आदैच् संज्ञी और वृद्धि संज्ञा है। इस संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध से पूर्व वृद्धि शब्द का केवल प्रातिपदिक के रूप में स्वरूपमात्र का ज्ञान होता था। जब वृद्धिशब्द आदैच् वर्णों के साथ पारिभाषिक संज्ञा के रूप में जुड़ जाता है तब षष्ठी विभक्ति से 'आदैच् वर्णों की वृद्धि संज्ञा है,' इस रूप में, अथवा प्रथमा विभक्ति से- 'आदैच् वर्ण वृद्धिसंज्ञक हैं,' इस रूप में, उसका ग्रहण किया जाता है॥66॥

प्रथमा और षष्ठी विभक्तियों के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हैं-

**तस्यार्थवत्त्वात् प्रथमा संज्ञाशब्दाद् विधीयते।**
**अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते॥67॥**

अन्वय:- तत्र अर्थवत्त्वात् संज्ञाशब्दात् प्रथमा विधीयते तदर्थात् एव अस्य इति व्यतिरेक: च जायते॥

व्याख्या- (तत्र) इस विषय में (अर्थवत्त्वात्) अर्थवान् होने से (संज्ञाशब्दात्) संज्ञाशब्द से, जैसे कि वृद्धिरादैच् सूत्र में वृद्धि इस

संज्ञावाची शब्द से (प्रथमा विधीयते) प्रथमा विभक्ति का विधान किया जाता है। क्योंकि 'अर्थवदधातुरप्रत्ययःप्रातिपदिकम्' जो धातु और प्रत्यय नहीं हैं, ऐसे अर्थवान् शब्द से 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इस विधान के अनुसार प्रथमा विभक्ति हुआ करती है। (तदर्थात् एव) प्रातिपदिक के अर्थ से ही (व्यतिरेक:) भिन्नता 'अस्येति सम्बन्धता से' अर्थात् षष्ठी विभक्ति (च जायते) भी हो जाया करती है। पातञ्जल महाभाष्य और भर्तृहरिकृत स्वोपज्ञवृत्ति के अनुसार समानाधिकरण्य और एकविभक्तिता दो स्थितियों में होती है- जब एक विशेषण और दूसरा विशेष्य हो, अथवा एक संज्ञा हो और दूसरा संज्ञी। और षष्ठी विभक्ति तो 'यह उसका है' इस सम्बन्ध से अर्थवान् के साथ कथन होने पर होती है।।67।।



अब संज्ञा से व्यक्ति का ग्रहण होता है या जाति का? इसे स्पष्ट करते हैं।

**स्वरूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तेः संज्ञोपदिश्यते।**
**व्यक्तौ कार्याणि संस्पृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते।।68।।**

अन्वय:- कैश्चित् तु स्वरूपम् इति व्यक्तेः संज्ञा उपदिश्यते। व्यक्तेः तु संस्पृष्टा जातिः कार्याणि प्रतिपद्यते।।

व्याख्या- (कैश्चित्) कुछ आचार्यों के द्वारा (तु) तो 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इस सूत्र के अनुसार (स्वरूपम् इति) स्वरूप कहने से (व्यक्तेः संज्ञा) व्यक्ति की संज्ञा का कथन (उपदिश्यते) किया जाता है। किन्तु दूसरे आचार्यों का मत है कि (व्यक्तेः संस्पृष्टा) व्यक्ति से जुड़ी हुई, अथवा व्यक्ति के आश्रित (जातिः कार्याणि प्रतिपद्यते) जाति संज्ञादि कार्यों को प्राप्त करती है। 

वस्तुतः व्यक्ति और जाति के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं, जैसे कि कुछ का कहना है कि शब्द का अपना रूप ग्राह्य द्योत्य और प्रत्यय होता है इसी प्रकार जाति के सम्बन्ध में भी दो प्रकार की धारणायें हैं। जैसे कि कुछ आचार्यों का मानना है कि व्यक्तियाँ प्रतिनियतस्वरूप भेद वाली होती हैं। दूसरे आचार्यों का कहना है कि जाति

ही मुख्य है, उसमें प्रतिलब्ध स्वरूप वाले शब्द तद्रूपता से ही जिसका स्वरूप अकथनीय रहता है, उस व्यक्ति की प्रतीति कराते हैं।।68।।

संज्ञा वाली व्यक्ति के विषय में यह कारिका है-

**संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रग्राह्यामथापरे।**
**जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते।।69।।**

अन्वयः- सूत्रग्राह्याम् व्यक्तिम् संज्ञिनीम् इच्छन्ति। अथ अपरे जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषु उपतिष्ठते।।

व्याख्या- (सूत्रग्राह्याम्) सूत्र से बोध्य (व्यक्तिम्) व्यक्ति को (संज्ञिनीम्) संज्ञा वाली अर्थात् वाच्य (इच्छन्ति) कुछ वैयाकरण मानते हैं (अथ) तथा (अपरे) अन्य वैयाकरण जाति को। (जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः) जाति से बोधित व्यक्ति ही (प्रदेशेषु उपतिष्ठते) कार्यकारण में उपस्थित रहती है। जाति में कार्य के सम्भव न होने से जाति से जानी गई व्यक्ति (द्रव्य- पिण्डविशेष) में ही कार्य किया जाता है।।69।।

जाति के एक होने के कारण जातिवादियों का कहना है कि व्यक्तियों के असंख्य अनन्त होने से व्यक्तियों में तो कार्य हो नहीं सकता, इसलिए जाति में ही कार्य होता है। इस पर यह कारिका है-

**कार्यत्वे नित्यतायाम् वा केचिदेकत्ववादिनः।**
**कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः।।70।।**

अन्वयः- केचित् कार्यत्वे नित्यतायाम् वा एकत्ववादिनः। केचित् कार्यत्वे नित्यतायाम् वा नानात्ववादिनः।।

व्याख्या- (केचित्) कुछ आचार्यों का मत है कि (कार्यत्वे) शब्द को कार्य अथवा उत्पाद्य या अनित्य मानें अथवा (नित्यतायाम् वा) नित्य मानें शब्द तो एक ही अखण्ड स्फोटरूप है, ऐसे आचार्यों को (एकत्ववादिनः) एकत्ववादी कहा जाता है। दूसरी ओर, (केचित्) कुछ दूसरे आचार्यों का मत है कि आप (कार्यत्वे) शब्द को अनित्य मानें अथवा (नित्यतायां वा) नित्य मानें, वह तो अनेक रूप में विद्यमान है। ऐसे आचार्यों को (नानात्ववादिनः) अनेकतावादी कहा जाता है।। इस प्रकार प्रथम दृष्टि से व्यक्तिवाद और द्वितीय दृष्टि से जातिवाद की स्थापना यहाँ पर की गई है।

जैसे कि गौः इस शब्द के उच्चारणकाल में वाणी में पहले गकार का उच्चारण होता है, अनन्तर वाणी उसके उच्चारण को छोड़कर आगे औकार का उच्चारण करने लगती है, तत्पश्चात् औकार के भी उच्चारण को छोड़कर विसर्ग के उच्चारण करने पर रुक जाती है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक वर्ण के गमनागमन से शब्द को कार्य, उत्पाद्य या अनित्य माना गया है। किन्तु जब एक साथ ही अनेक लोगों के द्वारा 'गौः' इत्यादि शब्द उच्चारित किये जा सकते हों और एक बार उच्चारण करने के पश्चात् भी शब्द यदि नष्ट हो गया होता तो दूसरी बार उसका उच्चारण नहीं किया जा सकता था। किन्तु लोक में देखा जाता है कि पुनः पुनः समान वर्णानुपूर्वी वाले शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग और उच्चारण होता रहता है। ऐसा तभी सम्भव है जब कि शब्द स्वसत्ता से नित्य उपलब्ध रहता हो। तत्वतः इसी कारण शब्द को नित्य और अर्थ का बोधक होने से स्फोट नाम से कहा जाता है, स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः।।70।।

वर्णों के अनेक रहने पर भी पद एक ही रहता है, इसको प्रतिपादित करते हैं-

**पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।**
**वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते।।71।।**

अन्वयः- वर्णानाम् भेदे अपि एकत्वम् न निवर्तते। भिन्नेषु अपि वाक्येषु एकम् पदम् उपलभ्यते।।

व्याख्या- (वर्णानाम्) अकारादि वर्णों के (पदभेदे अपि) प्रत्येक पद में भिन्न-भिन्न होने पर भी (एकत्वम् न निवर्तते) एकत्व अर्थात् समानता का लोप नहीं हुआ करता। जैसे कि अर्कः, अश्वः इन शब्दों में अवर्ण की समान रूप से आवृत्ति हो रही है, गौः, गवयः, गगनम् में गकार की समान रूप से आवृत्ति हो रही है, ये अनेक अकार और अनेक गकार न होकर एक ही अकार और एक ही गकार हैं। तथैव (भिन्नेषु अपि च वाक्येषु) वाक्यों के अनेक होने पर भी (एकम् पदम् उपलभ्यते) किसी पद की पुनः पुनः आवृत्ति होने पर वह एक ही रहता है। जैसे कि

'घटमानय, 'घटोस्ति' में दो वार आवृत्त होने पर भी वह अभिन्न एक ही घट पद है। महाभाष्य में भी कहा गया है 'युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनान्मन्यामहे आन्यभाव्यमकारस्येति' अर्थात् जैसे अश्वः, अर्कः, अर्थः इन पदों में अकार अनेक वार अनेक स्थानों पर एक साथ बोला जा रहा है, उसी प्रकार उक्त वाक्यों में घट पद भी अभिन्न और एक ही है अनेक नहीं, ऐसा समझना चाहिए।।71।।

पद वर्णों से भिन्न नहीं, और वाक्य पदों से भिन्न नहीं, इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है-

**तद् वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते।**
**वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन।।72।।**

अन्वयः- वर्णव्यतिरेकेण तत् पदम् अन्यत् न विद्यते। वर्णपदाभ्याम् च व्यतिरिक्तम् किंचन वाक्यम् न।।

व्याख्या- (वर्णव्यतिरेकेण) वर्णों से रहित या वर्णों से भिन्न (तत् पदम्) वह पद (अन्यत् न विद्यते) और कुछ नहीं होता है। (च) और (वर्णपदाभ्याम् व्यतिरिक्तम्) वर्णों तथा पदों से रहित अथवा वर्णपदों से भिन्न (किंचन वाक्यम् न) कोई भी वाक्य नहीं हुआ करता। इसीलिए कहा जाता है, वर्णसमूह का नाम पद और पदसमूह का नाम वाक्य होता है।।72।।

पदों में वर्णों की सत्ता और वाक्यों में पदों की सत्ता की लोकप्रसिद्ध मान्यता को दर्शाने के पश्चात् वैयाकरणसिद्धान्त को तत्त्वतः दर्शाते हैं-

**पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।**
**वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।73।।**

अन्वयः- पदे वर्णाः न विद्यन्ते, न च वर्णेषु अवयवाः। वाक्यात् पदानाम् कश्चन अत्यन्तम् प्रविवेकः न।।

व्याख्या- (पदे वर्णाः न विद्यन्ते) पद में अकारादि या ककारादि वर्ण नहीं रहते हैं। (वाक्यात्) वाक्य से (पदानाम्) पदों का (कश्चन अत्यन्तम् प्रविवेकः न) कोई अत्यधिक विभाजन या पृथक् भाव का ज्ञान नहीं हुआ करता।

इस कारिका में शब्दनित्यत्व पक्ष में अखण्डपदवाक्यस्फोट का प्रतिपादन करते हुए वाक्य में पदों और पद में वर्णों के व्यवहार को अवास्तविक माना गया है, जब कि प्रक्रिया दशा में उक्त 72वीं कारिका के अनुसार पद में वर्णों का और वाक्य में पदों और वर्णों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।।73।।

प्रश्न होता है कि वाक्य, पद, वर्णों के सम्बन्ध में यह दो प्रकार की परस्पर विरोधी स्थिति का क्या कारण है? इसका उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं-

**भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।**
**तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः।।74।।**

अन्वयः- व्यवहारः भिन्नम् दर्शनम् आश्रित्य अनुगम्यते। तत्र एकेषाम् यत् मुख्यम् तत्र अन्येषाम् विपर्ययः।।

व्याख्या- (व्यवहारः) यह वर्ण है, यह पद है और यह वाक्य है, इस प्रकार का भेदयुक्त व्यवहार (भिन्नम् दर्शनम् आश्रित्य) भिन्न विचार, मतान्तर को आधार मानकर (अनुगम्यते) किया जाता है। (तत्र) इस विषय में (अन्येषाम्) कुछ आचार्यों का (यत् मुख्यम्) जो मुख्य है, अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य सत्य हैं और उनके पृथक्-पृथक् होते हुए ही व्याकरण, काव्यमीमांसादि शास्त्रों के सिद्धान्त लोक में प्रचलित होते हैं, इत्यादि कथन है, (तत्र) उस सम्बन्ध में (अन्येषाम्) अन्य वैयाकरण दार्शनिकों, अनादिनिधनशब्दब्रह्मवादियों का मत (विपर्ययः) उक्त दर्शन वालों से विपरीत है। अर्थात् वैयाकरण दार्शनिक वर्णपदादि के व्यवहार को उतने अंश में मान्य या उचित समझते हैं, जितने में एक रेखागवय (चित्र में बनाई गई गवय नामक पशु की आकृति) में और वास्तविक गवय में अन्तर हुआ करता है। आशय यह हुआ कि तत्त्वज्ञान के पूर्व भले ही वर्णादि व्यवहार की उपयोगिता है, किन्तु अन्ततः तो शब्दनित्यत्व पक्ष में अखण्डवाक्यस्फोट के अंगीकार में ही सर्व मतों का पर्यवसान जानना चाहिए।।74।।

अब आगामी चार कारिकाओं के द्वारा स्फोट के वृत्तिभेद को दर्शाते

हैं-

**स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।**
**ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥75॥**

अन्वयः- ध्वनिकालानुपातिनः अभिन्नकालस्य स्फोटस्य ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥

व्याख्या- (ध्वनिकालानुपातिनः) उच्चारण करते समय जो पहचाना जाता है, किन्तु (अभिन्नकालस्य) जिसकी सत्ता सदा बनी रहती है, उत्पत्तिविनाशशील न होकर जो नित्य है, ऐसे (स्फोटस्य) स्फोट को (ग्रहणोपाधिभेदेन) ग्रहण जो व्यञ्जक ध्वनि है, उसको प्राप्त होने पर ध्वनियों के भिन्न-भिन्न होने से (वृत्तिभेदम्) द्रुत, मध्यम, विलम्बित, आदि ध्वनियों की वृत्तियों के भेद वाला हो जाता है, ऐसा (प्रचक्षते) वैयाकरण आचार्य कहते हैं। वास्तव में, स्फोट सदा एकरस होने के कारण किसी प्रकार ध्वनि की वृत्तियों से खण्डित या भिन्न-भिन्न नहीं हुआ करता। इसीलिए महाभाष्य में कहा गया है, 'ध्वनिस्तु भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत्पदानि, ध्वनिकृता वृद्धिः। स्फोटस्तु तावानेव।'॥75॥

**स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।**
**प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥76॥**

अन्वयः- नित्यत्वे प्राकृतस्य ध्वनेः स्वभावभेदात् ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु कालः शब्दस्य इति उपचर्यते॥

व्याख्या- (नित्यत्वे) स्फोटात्मक शब्द के नित्य त्रिकालाबाधित होते हुए भी (प्राकृतस्य ध्वनेः) प्राकृत ध्वनि के, जो कि वर्णों के उच्चारण में प्रथमतः सुनाई देती है, और (स्वभावभेदात्) वर्णों के स्थान, करण के भिन्न-भिन्न होने से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, इत्यादि रूप में क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक, इत्यादि तारतम्य से अनेकता लिए हुए है, उस ध्वनि का (कालः) यह एकमात्रिक इत्यादि काल (शब्दस्य इति उपचर्यते) शब्द का यह उच्चारण काल है, ऐसा उपचार से, गौण रूप से, कहा जाता है॥76॥

**वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।**
**वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥77॥**

अन्वयः- वर्णस्य ग्रहणे हेतुः ध्वनिः प्राकृतः इष्यते। वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।।

व्याख्या- (वर्णस्य) अकारादि वर्ण के (ग्रहणे) उच्चारण में (हेतुः) कारण जो (ध्वनिः) नाद होता है, वह (प्राकृतः इष्यते) स्फोटरूप मूल प्रकृति का मानो विकारभूत वक्ता के प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होने के कारण प्राकृत ध्वनि कहलाती है। तथा (वृत्तिभेदे) अर्धमात्र, एकमात्र, दो मात्र, तीन मात्र इस प्रकार के क्रमशः व्यञ्जन, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों के उच्चारण काल के जो परिमाण हैं, इनको सम्पन्न करने का (निमित्तत्वम्) हेतु (वैकृतः प्रतिपद्यते) विकार को प्राप्त होने के कारण वैकृत ध्वनि के रूप में जाना जाता है।।77।।

**शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।**
**ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥78॥**

अन्वयः- शब्दस्य अभिव्यक्तेः ऊर्ध्वम् वृत्तिभेदे वैकृता ध्वनयः समुपोहन्ते, तैः स्फोटात्मा न भिद्यते।।

व्याख्या- (शब्दस्य अभिव्यक्तेः) शब्द की अभिव्यक्ति अर्थात् उच्चारण के (ऊर्ध्वम्) पश्चात्, अनन्तर (वृत्तिभेदे) ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत नामक वृत्तियों को (वैकृताः ध्वनयः) एक, दो, तीन मात्राओं वाली विकार को प्राप्त ध्वनियाँ (समुपोहन्ते) निष्पन्न करती हैं, किन्तु इस उच्चारणप्रक्रिया से (तैः) उनके द्वारा (स्फोटात्मा न भिद्यते) स्फोट रूप शब्दात्मा में ह्रस्वादि भेद नहीं होता। वह स्फोट सदा एक ही रूप में बना रहता है।।78।।

ध्वनियों से किस-किस का संस्कार होता है? इसको बतलाते हैं-

**इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य च।**
**क्रमते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥79॥**

अन्वयः- ध्वनिभिः इन्द्रियस्य एव, शब्दस्य एव, उभयस्य च संस्कारः क्रियते (इति) अभिव्यक्तिवादिनाम् त्रयः वादाः।।

व्याख्या- (ध्वनिभिः) उच्चारित ध्वनियों के द्वारा (इन्द्रियस्य एव) श्रोत्र इन्द्रिय का ही, अथवा (शब्दस्य एव) सम्बद्ध शब्द का ही, अथवा (उभयस्य च) शब्द और श्रोत्र इन्द्रिय, दोनों का (संस्कारः) संस्कार, चित्त में जानकारी, अथवा स्मृति के रूप में संस्कार (क्रियते) किया जाता है। इस प्रकार स्फोटात्मक शब्द की ध्वनियों से अभिव्यक्ति मानने वालों के तीन प्रकार के वाद (= कथन) या सिद्धान्त हैं।।।79।।

उक्त तीनों वादों के सम्बन्ध में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं,

**इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः।**
**विषयस्य च संस्कारस्तद्गन्धाप्रतिपत्तये।।80।।**

अन्वयः- समाधानाञ्जनादिभिः इन्द्रियस्य एव संस्कारः, विषयस्य संस्कारः तु तद्गन्धाप्रतिपत्तये भवतीति शेषः।।

व्याख्या- (समाधानाञ्जनादिभिः) चित्त की एकाग्रता और आँख में अञ्जनादि लगाने से दृष्टि में निखार आता है। अतः 'चक्षुषा घटो दृश्यते' इस वाक्य में आँख से घट का सम्यक् दर्शन हो रहा है, तो चक्षु इन्द्रिय संस्कारित है, नीरोग एवं स्वस्थ है, यही जानना चाहिए। अतः (इन्द्रियस्य एव संस्कारः) इन्द्रिय का संस्कारित होना प्रथमतः आवश्यक है। (विषयस्य) घट का दर्शन चक्षु द्वारा होता है और निर्माण निर्माता घटकार द्वारा होता है। इस कारण घट कर्म होने से विषय है, उसका (संस्कारः तु) संस्कार तो (तद्गन्धाप्रतिपत्तये) उसके गन्ध के ज्ञान के लिए किया जाता है। अर्थात् प्रथम विशेष प्रकार की मिट्टी में जल के संयोग से उसको गीला करके शरावादि के रूप में चाक की सहायता से जो गढ़ा जाता है, वह घट की प्रथम अवस्था है। उसमें जल के संयोग से सोंधी गन्ध का प्रकटीकरण होता है, जिसका घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है। वही गन्धयुक्त शराव, आदि घट कार्य में परिपाक द्वारा परिणत होते हैं। इस प्रकार इस कारिका में ग्रहण और गाह्य में अथवा, साधन और साध्य में संस्कार को दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है।।80।।

तीसरे मत में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं-

**चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा च द्वयोरपि।**
**विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स क्रमो ध्वनेः॥81॥**

अन्वयः- चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तु द्वयोः तेजसा संस्कारः, ध्वनेः अपि स क्रमः इष्टः॥

व्याख्या- (चक्षुषः प्राप्यकारित्वे) चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में (विषयेन्द्रिययोः द्वयोः) विषय घट, पट, जो आँख से देखा जाता है और इन्द्रिय, नेत्र इन दोनों का (तेजसा) प्रकाश की विद्यमानता में ही, चाहे वह सूर्य का प्रकाश हो अथवा दीपक, अग्नि, विद्युत्, आदि का प्रकाश हो, दोनों का (संस्कार) संस्कार, कार्यकारिता के लिए समुचित योग्यता हुआ करती है। अर्थात् प्रकाश के होने पर ही नेत्र किसी वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं, तभी घट, पट, आदि दिखाई देते हैं, अन्धकार में नहीं। (ध्वनेः अपि) ध्वनि का भी (सः क्रमः इष्टः) उसी प्रकार का क्रम होता है। यहाँ पर भी विषय घट, पट, आदि तथा इन्द्रिय श्रोत्र का संस्कार हुआ करता है। जैसे कि वाणी से शब्दविशेष के उच्चारण में जो ध्वनि व्यक्त होती है, वही श्रोत्र द्वारा श्रोता को सुनाई देती है, जिससे श्रोता वक्ता ने अमुक शब्द कहा, अमुक नहीं, इस वितर्क या निश्चय से उस श्रुत शब्द और उसके अर्थ को जान लेता है॥81॥

अब ध्वनि और स्फोट के ग्रहण में मतभेद दर्शाते हैं-

**स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।**
**कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशितः॥82॥**

अन्वयः- कैश्चित् स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेः ग्रहणम् इष्यते। असंवेद्यः स्वतन्त्रः ध्वनिः अन्यैः प्रकाशितः॥

व्याख्या- (कैश्चित्) किन्हीं आचार्यों का मत है कि (स्फोटरूपाविभागेन) स्फोट के रूप के अविभाग द्वारा अर्थात् स्फोटात्मक शब्द और उसका ध्वन्यात्मक रूप, इन दोनों के मिश्रण से, अथवा अभिन्नता से (ध्वनेः ग्रहणम् इष्यते) ध्वनि का ग्रहण हुआ करता है। जैसे कि जपाकुसुम की लालिमा से युक्त काँच का टुकड़ा हुआ करता है। दूसरे वैयाकरणों का मत है कि (स्वतन्त्रः) केवल अकेले ही (ध्वनिः)

ध्वनि (अन्यैः प्रकाशितः) अन्य जनों के द्वारा अभिव्यक्त होने पर दूरस्थित लोगों को स्वरूपतः (असंवेद्यः) अविज्ञात होने पर भी शब्द के ग्रहण में निमित्त हुआ करता है। इस मत में स्फोट और ध्वनि दो भिन्न पदार्थ हैं। स्फोट जहाँ अखण्डात्मक नित्य शब्द है, वहाँ ध्वनि उस शब्द को अन्य तक पहुँचाने का माध्यम है। ध्वनि के विना पारस्परिक भाषा-व्यवहार या संवाद सम्भव ही नहीं। लेखबद्ध कथन के प्रेषण द्वारा प्राप्तकर्त्ता भी लिखित वक्तव्य को पढ़ने में जो उपांशु वाक् का प्रयोग करता है, वह भी ध्वनि का ही अल्प (सूक्ष्म) रूप है। इसलिए कहा गया है-

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महाँश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः।।

(महाभाष्यम्, 1-1-70,82)।।

ध्वनियों की उत्पत्ति क्रमिक होने पर भी यह एक पद है, यह एक वाक्य है, ऐसा लोक-व्यवहार हुआ करता है, यह बतलाते हैं।

**यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।**
**आवृत्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्या निरूप्यते।।83।।**

अन्वयः- यथा (एकया) आवृत्या अनुवाकः श्लोकः वा सोढत्वम् उपगच्छति, सः ग्रन्थः तु न (एवमेव) प्रत्यावृत्या निरूप्यते।।

व्याख्या- (यथा) जैसे (एकया आवृत्या) एक आवृत्ति, एक बार के पाठ मात्र से (अनुवाकः) वैदिक ग्रन्थ का कोई अनुवाक विशेष (वा) या (श्लोकः) अनेक वर्णों और पदों से युक्त कोई श्लोक, पद्य (सोढत्वम्) एक बुद्धि का विषय (उपगच्छति) बन जाता है। अर्थात् यह एक अनुवाक है, यह एक श्लोक है, इत्यादि बोध हुआ करता है, वैसे (सः ग्रन्थः तु न) वह अनुवाक या श्लोक जिस ग्रन्थ का है, उसका पूरा बोध नहीं होता, भले ही (प्रत्यावृत्या) बार-बार आवृत्ति करने से उस अनुवाक या श्लोक के विषय में एकत्व बुद्धि (निरूप्यते) बनी रहती है।

आशय यह है कि शब्द के उच्चारण होने पर उत्पन्न ध्वनियों के द्वारा अवास्तविक खण्डयुक्त वर्ण, पद, वाक्य सम्बन्धी स्फोटों को प्रकाशित किये जाने पर भी अन्ततः एक ही स्फोट प्रकाशित किया जाता है। यह

प्रक्रिया नित्य एक अखण्ड स्फोट को मानने वालों के मत से उपपन्न होती है। उधर, लोकव्यवहार की दृष्टि से, वर्णों, पदों, वाक्यों और वाक्यसमूह रूप ग्रन्थों में वर्ण, पद, वाक्यों का नानात्व बना रहता ही है, यह कहा जा सकता है। यद्यपि यह पक्ष नित्य अखण्ड शब्दतत्व की मान्यता के अनुसार अवास्तविक कहा जा सकता है, तथापि व्याकरण शास्त्र में प्रक्रिया का अवलम्बन होने से उक्त दोनों पक्ष, दृष्टिभेद से, उपपन्न अर्थात् युक्त माने गये हैं।।83।।

ध्वनि से जब सम्पूर्ण शब्द अभिव्यक्त होता है, तभी स्फोट (शब्दार्थ) का ज्ञान होता है, इसे दर्शाते हैं–

**प्रत्यये अनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।**
**ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।।84।।**

अन्वयः– तथा अनुपाख्येयैः ग्रहणानुगुणैः प्रत्ययैः ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपम् अवधार्यते।।

व्याख्या– इस कारिका का सम्बन्ध पूर्वोक्त 82वें कारिका के तारतम्य में है। (तथा) उसी प्रकार (अनुपाख्येयैः) जिनके उपायों का वर्णन नहीं किया जा सकता और जो (ग्रहणानुगुणैः) स्फोट के ज्ञान में अनुकूलता लिए रहते हैं, उन (प्रत्ययैः) प्रतीतियों या बोधों से (ध्वनिप्रकाशिते शब्दे) ध्वनि से सम्पूर्ण शब्द जैसे गौः इत्यादि के अभिव्यक्त होने पर (स्वरूपम्) उस शब्द का जो अर्थ जो स्फोट कहलाता है (अवधार्यते) सम्यक् रूप से जाना जाता है। (84)।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

**नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।**
**आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।।85।।**

अन्वयः– नादैः आहितबीजायाम् अन्त्येन ध्वनिना सह आवृत्तपरिपाकायाम् बुद्धौ शब्दः अवधार्यते।।

व्याख्या– (नादैः) 'गौः' इत्यादि शब्द के उच्चारण में जो गकार, आदि क्रमिक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके द्वारा (आहितबीजायाम्) संस्कारों

के आधान होने से और (अन्त्येन ध्वनिना सह) शब्द के अन्तिम ध्वनि के उच्चारण पूर्ण होते ही (आवृत्तपरिपाकायाम् बुद्धौ) पुनः पुनः वर्णोच्चारण से जिसमें परिपक्वता प्राप्त हो गई हो, ऐसी बुद्धि के उदित होने पर (शब्दः) 'गौः' शब्द अपने अर्थ (स्फोट) के साथ ज्ञान में (अवधार्यते) निश्चित रूप से प्रकाशित हो जाता है। सर्वदर्शनसंग्रह (13वें अध्याय) में भी कहा गया है- 'इसलिए इस शब्द से यह अर्थ जाना जाता है' इस प्रसिद्ध व्यवहार से वर्णों में अर्थ की वाचकता न होकर निरवयव अर्थ का प्रत्यायक, शब्दतत्त्व ही स्फोट हुआ करता है, यह मानना चाहिए।' वस्तुतः 'गौः' इत्यादि किसी भी शब्द में पूर्व-पूर्व वर्ण के उच्चारण की ध्वनि के अनुभव से उत्पन्न संस्कार से संस्कृत हुए अन्तःकरण में अन्तिम वर्ण की ध्वनि के सहयोग से स्फोट का प्रत्यक्ष होता है, इसलिए शब्द की कोई भी ध्वनि व्यर्थ नहीं मानी जा सकती।।85।।

अब प्रश्न होता है कि यदि वास्तविक स्फोट अखण्ड है तो बीच-बीच में शब्द में वर्णों का और वाक्य में शब्दों का अवभास क्यों होता है? इसके उत्तर में कहते हैं-

**असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।**
**प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः।।86।।**

अन्वयः- अन्तराले असतः यान् शब्दान् अस्ति इति मन्यते, सा प्रतिपत्तुः अशक्तिः सः (ध्वनिः) ग्रहणोपाय एव।।

व्याख्या- (अन्तराले) शब्द के अथवा वाक्य के उच्चारण के मध्य में (असतः) असत्य रूप (यान् शब्दान्) जिन वर्णों और शब्दों को (अस्ति इति) अस्तित्व रूप में (मन्यते) जो जानता है (सा) वह (प्रतिपत्तुः) उस ज्ञाता की (अशक्तिः) अशक्ति है, यह मानना चाहिए। अथवा, वह वर्ण या शब्द की ध्वनि (ग्रहणोपायः एव) स्फोट को क्रमशः ग्रहण करने का उपाय और स्फोट का प्रकाशक ही है, यह समझना चाहिए।।86।।

ज्ञान और शब्दों के मिश्रण और समस्त ज्ञान के ज्ञेयाश्रित होने से शब्दार्थों में भेद हुआ करता है, भेद के विना वाग्-व्यवहार सम्भव ही

नहीं, इसे दर्शाते हैं-

**भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।**
**क्रमोपसृष्टरूपाया ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्।।87।।**

अन्वयः- ज्ञेयव्यपाश्रयात् (ज्ञानं भवतीति शेषः) ज्ञानस्य क्रमोपसृष्टरूपायाः वाचः स उपप्लवः ज्ञानस्य भेदानुकारः ध्रुवः।।

व्याख्या- (ज्ञेयव्यपाश्रयात्) गौः, अश्वः, घटः, पटः, इत्यादि जानने योग्य वस्तुओं के भिन्न-भिन्न होने से (ज्ञानम्) तद्विषयक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हुआ करता है। (ज्ञानस्य) ज्ञान के (च) और (क्रमोपसृष्टरूपायाः वाचः) क्रमिक वर्ण, पदादि रूप में उच्चरित होने वाले शब्दों का (उपप्लवः) भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध होने से व्यवहार में (भेदानुकारः) शब्दार्थविषयक भेद से ज्ञान का भी भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध होना (ध्रुवः) निश्चित है। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक रूप से घट अर्थ को व्यञ्जित करने वाली वर्ण विशेषों के क्रमिक सहोच्चारण से निष्पन्न वाक् (शब्द) पट अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली वर्णों के क्रमिक उच्चारण से निष्पन्न वाक् (शब्द) से भिन्न हुआ करती है, अन्यथा लोक-व्यवहार उपपन्न ही नहीं हो सकता। परन्तु परमार्थतः स्फोट एक ही है, उसमें भेद नहीं है। इस विषय में हरिवृषभीय स्वोपज्ञटीका मे किन्हीं पूर्वाचार्यों का यह श्लोक भी उद्धृत है-

**'ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।**
**नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते।।' ।।87।।**

स्फोट के एकत्व में दृष्टान्त उपस्थित करते हैं-

**यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।**
**संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः।।88।।**

अन्वयः- यथा संख्यान्तराणाम् भेदे अपि प्रतिपत्तये आद्यसंख्याग्रहणम् उपायः तथा शब्दान्तरश्रुतिः (वाक्यस्फोटज्ञानस्य) तदवान्तरपदादिश्रुतिः उपायः इति शेषः।।

व्याख्या- (यथा) जिस प्रकार (संख्यान्तराणाम्) दो, तीन, चार, पाँच, इत्यादि अन्य संख्याओं के भेदे अपि। एक दूसरे के भेद में भी

(प्रतिपत्तये) उनके ज्ञान के लिए (आद्यसंख्याग्रहणम्) आदि की संख्या अर्थात् एक के ज्ञान की अनिवार्यता (उपायः) हेतुभूतता हुआ करती है, (तथा) उसी प्रकार (शब्दान्तरश्रुतिः) वाक्यस्फोट के ज्ञान के लिए उससे भिन्न वर्ण, पद, आदि का ज्ञान होना आवश्यक साधन या उपाय है, ऐसा समझना चाहिए।।88।।

प्रत्येक वर्ण, पद, आदि स्फोट के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं, इस विषय को आगे दर्शाते हैं।

**प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णा वाक्यपदादिषु।**
**तेषामत्यन्तभेदेऽपि संकीर्णा इव शक्तयः।।89।।**

अन्वयः- (वाक्यपदेषु) वाक्यों और पदों में (प्रत्येकम्) प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक पद में (भिन्नाः) भिन्न-भिन्न (ये व्यञ्जकाः वर्णाः) जो स्फोट के द्योतक वर्णरूप ध्वनियाँ हुआ करती हैं (तेषाम्) उनके (अत्यन्तभेदे अपि) परस्पर बहुत भिन्न होते हुए भी (शक्तयः) अर्थबोधक शक्तियाँ या योग्यतायें (संकीर्णाः इव) मिली हुई सी रहती हैं। आशय यह है कि पद के भीतर वर्ण और वाक्य के भीतर पद परस्पर सम्बद्ध होने पर ही अर्थविशेष के प्रत्यायक हुआ करते हैं, अकेले नहीं।।89।।

इस विषय में दृष्टान्त दर्शाते हैं-

**यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात् सन्तमसेऽपि वा ।**
**अन्यथाकृत्य विषयमन्यथैवाध्यवस्यति।।90।।**
**व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।**
**भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते।।91।।**

अन्वयः- यथा दूरात् सन्तमसे अपि वा पूर्वैः दर्शनैः अन्यथाकृत्य विषयम् अन्यथा एव अध्यवस्यति।। तथा वाक्यभिव्यक्तिहेतुभिः व्यज्यमाने वाक्ये पूर्वम् भावावग्रहरूपेण बुद्धिः प्रवर्तते।।90,91।।

व्याख्या- (यथा) जैसे (दूरात्) दूर से प्रकाश में किसी वस्तु को देखने से (सन्तमसे अपि वा) अथवा धुँधले अन्धकार में (पूर्वैः दर्शनैः) पहले देखी हुई (विषयम्) वस्तुयें (अन्यथाकृत्य एव) अन्य ही प्रकार की दिखाई देती हैं, और प्रकाश होने पर अथवा समीप से देखने से (अन्यथा

एव) भिन्न रूप में ही (अध्यवस्यति) दर्शक उनको, यथार्थता से, देखा करता है। (तथा) उसी प्रकार (वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः) वाक्य को प्रकट करने वाले वर्ण, पद, वाक्यरूप- शब्दावयव कारणों से (वाक्ये व्यज्यमाने) वाक्य के अभिव्यक्त होने पर (पूर्वम्) पहले (भागावग्रहरूपेण) शब्द के जो वाक्य, पद, वर्ण रूप अवयव हैं, उनका ग्रहण तदनुकूल हुआ करता है और तदनन्तर (बुद्धिः प्रवर्तते) वक्ता द्वारा अभिव्यक्त शब्दों की ही आकृति श्रोता की बुद्धि में उपस्थित होती है, जिससे शब्दजन्य अर्थ पर बुद्धि विचार करने लग जाती है। आशय यह है कि यद्यपि वाक्य ही अर्थ का वाचक हुआ करता है, तथापि वाक्य के घटक पद, वर्णों के क्रम का ज्ञान ही अन्ततः वाक्योक्त अर्थ को यथार्थता से ग्रहण किया करता है, उसके विना नहीं।।90,91।।

ज्ञान पहले आभास रूप में और पश्चात् निश्चय के रूप में होता है, इस विषय में दृष्टान्तपूर्वक कथन करते हैं-

**यथानुपूर्वी नियमो विकारे क्षीरबीजयोः।**
**तथैव प्रतिपत्तृणां नियतो बुद्धिषु क्रमः।।92।।**

अन्वयः- यथा क्षीरबीजयोः विकारे आनुपूर्वीनियमः तथा एव प्रतिपत्तृणाम् बुद्धिषु क्रमः नियतः।।

व्याख्या- (यथा) जिस प्रकार (क्षीरबीजयोः) दूध या आम, आदि अथवा धान, गेहूँ, आदि के बीजों का (विकारे) विकार अर्थात् दूध का दही रूप में और बीज का अंकुर, के रूप में होने वाले परिणाम में (आनुपूर्वीनियमः) आनुपूर्वी अर्थात् क्रमिक विकास या परिवर्तन का नियम है (तथा एव) उसी प्रकार (प्रतिपत्तृणाम्) शब्दार्थसम्बन्ध को समझने वालों का भी (बुद्धिषु) पहले वर्णरूप बुद्धि तत्पश्चात् पदरूप बुद्धि तदनन्तर वाक्य और अन्ततः वाक्यार्थ की बुद्धि अर्थात् ज्ञानों का (क्रमः) एक के पश्चात् दूसरे, दूसरे के पश्चात् तीसरे का क्रमिक बोध होना (नियतः) निश्चित है, यह जानना चाहिए।।92।।

पदों को सावयव मानने पर समान वर्णों के संघात में रूपभेद एवम् अर्थभेद का कारण वर्णध्वनिक्रमविशेष हुआ करता है और निरवयव मानने

पर भी रूपभेद के लिए वर्णावयवत्व की कल्पना द्वारा समाधान कर लेना चाहिए, इसको दर्शाते हैं-

**भागवत्स्वेव तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात्।**
**निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम्।।93।।**

अन्वयः- तेषु भागवत्सु रूपभेदः ध्वनेः क्रमात् एव (भवति) वा निर्भागेषु अपि भागभेदप्रकल्पनम्।।

व्याख्या- (तेषु) उन (भागवत्सु अपि) अवयव वालों में भी (रूपभेदः) रूप का भेद (ध्वनेः क्रमात् एव) वर्णों की ध्वनि के क्रम से ही हुआ करता है। (वा) अथवा शब्दों को (निर्भागेषु अपि) भाग अर्थात् वर्णों के अवयवों से रहित अखण्डस्फोटात्मक मानने पर भी (भागभेदप्रकल्पनम्) अवयव के कारण रूपभेद की कल्पना करना (उपायः) प्रकार या साधन है, यह समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जैसे नदी और दीन इन शब्दों में यद्यपि नकार, अकार, दकार, ईकार वर्णों की समानता है, तथापि वर्णों के क्रमिक उच्चारण (ध्वनि) में भिन्नता होने से दोनों शब्दों के रूपों और अर्थों में भिन्नता स्पष्ट है। इसी प्रकार वायु-युवा, कारकः-करकाः, गवे-वेगः, तेन-नते, इत्यादि शब्दों के रूपों और अर्थों में भेद का कारण उनके अवयव रूप वर्णों के उच्चारण के क्रम का विशिष्ट भेद ही है। इस प्रकार पदों को सावयव मानें अथवा निरवयव दोनों दशाओं में वर्णों की वास्तविकता या काल्पनिकता माने विना कोई गति नहीं है।।93।।

अब जाति ही स्फोट है, इस मत को दर्शाते हैं।

**अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृताः।**
**कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः।।94।।**

अन्वयः- कैश्चिद् (आचार्यैः इति शेषः) अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिस्फोटः इति स्मृताः। अस्या व्यक्तय एव ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः।।

व्याख्या- (कैश्चिद्) कुछ आचार्यों के द्वारा (अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः) अनेकों क्रमों से उत्पन्न होने वाले वर्णों में अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ ही सम्पूर्ण वर्णराशि के क्रमिक संस्कार के द्वारा जो

वर्णजाति रूप अर्थविशेष प्रस्फुटित होता है, उसको जातिस्फोट के नाम से जाना जाता है। इस मत के अनुसार वर्णों को अनित्य मानने पर भी आकृति या जाति के नित्य होने के कारण शब्द को नित्य माना जाता है। और (व्यक्तय:) वर्णों के उच्चारणजन्य जो अभिव्यक्तियाँ हैं वे (ध्वनित्वेन प्रकल्पिता:) ध्वनिरूप में वर्णित की जाती हैं। ये ध्वनियाँ अनित्य हुआ करती हैं, क्योंकि वक्ता की विवक्षा और प्रयत्नविशेष से उत्पन्न होती हैं और उत्पन्न होने के पश्चात् उच्चारण काल समाप्त होते ही समाप्त हो जाती हैं। इसी बात को लक्षित कर काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने कहा है- 'बुधैर्वैयाकरणै: प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यञ्जकशब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार: कृत:। (काव्यप्रकाश:,1:4), आचार्य भर्तृहरि ने भी कहा है- 'यथा भ्रमणत्वादिजाति: चरमक्रियाप्रत्यक्षव्यंग्या एवमेषापि चरमवर्णप्रत्यक्षव्यंग्या। समुदाये बौद्धे भ्रमणत्वात्, एषापि तादृशे वर्णसमुदाये व्यासज्यप्रवृत्ति:।' (वैयाकरणलघुमञ्जूषा, पृष्ठ 486 में उद्धृत वचन)।।94।।

यह विकृत वर्णध्वनि ही अविकारी शब्द के परिज्ञान का हेतु हुआ करती है, इसको दर्शाते हैं-

**अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनि:।**
**उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत्।।95।।**

अन्वय:- निमित्तै: विकृत: ध्वनि: अविकारस्य शब्दस्य उपलब्धौ प्रकाशवत् निमित्तत्वम् उपयाति।।

व्याख्या- (निमित्तै:) शब्दोच्चारणकाल में उसमें निहित वर्णों के स्थान, प्रयत्न, करण वायु के आघात से (विकृत: ध्वनि:) उत्पन्न ध्वनि (अविकारस्य शब्दस्य) अविकारी तथा अविनाशी नित्य शब्द (जो कि अखण्ड स्फोट नाम से वैयाकरणों में प्रसिद्ध है) के (उपलब्धौ) अर्थात् ज्ञान में (प्रकाशवत्) जैसे किसी विद्यमान वस्तु के वास्तविक ज्ञान में, विशेषत: अन्धकारावस्था में (निमित्तत्वम् उपयाति) निमित्त, साधन और उपाय हुआ करता है, उसी प्रकार वैकृत ध्वनियाँ भी शब्दार्थ या वाक्यार्थ के ज्ञान में निमित्त, साधन और उपाय हुआ करती हैं।।95।।

किन्तु सांसारिक या लौकिक अनित्य वस्तुओं की भाँति नित्य शब्द में

अनित्यता की प्राप्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए। इस बात को दर्शाती हुई यह कारिका है-

**न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता।**
**आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते॥96॥**

अन्वयः- अनित्येषु (वस्तुषु इति शेषः) च अभिव्यक्तिः नियमेन न व्यवस्थिता। नित्यानां जातीनाम् व्यक्तिः अपि आश्रयैः इष्यते॥

व्याख्या- (अनित्येषु च) अनित्य वस्तुओं में भी (अभिव्यक्तिः) अभिव्यक्ति प्रकट होने का भाव (नियमेन न व्यवस्थिता) नियमानुसार व्यवस्थित नहीं है। प्रत्येक अनित्य वस्तु में अभिव्यंग्यत्व होयेगा ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। (नित्यानाम् जातीनाम्) गोत्व, अश्वत्व, मनुष्यत्व, इत्यादि नित्य जातियों की (व्यक्तिः अपि) अभिव्यक्ति भी (आश्रयैः) गौ, अश्व, मनुष्य, आदि जो द्रव्य रूप आकृतियाँ हैं, उनके आश्रयों से (इष्यते) ही हुआ करती है।॥96॥

उत्पत्ति वाले मूर्तिमान् वस्तुओं का ज्ञान जैसे देशादि के निमित्त से हुआ करता है, उसी प्रकार देश की भिन्नता से ध्वनि और शब्द का ग्रहण होता है, इसको बतलाने के लिए यह कारिका है-

**देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह।**
**देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः॥97॥**

अन्वयः- इह कार्यवताम् देशादिभिः च सम्बन्धः दृष्टः। देशभेदविकल्पे अपि ध्वनिशब्दयोः भेदः न॥

व्याख्या- (इह) लोक में (कायवताम्) उत्पत्ति वाले मूर्तिमान् पदार्थों का (देशादिभिः च) पूर्वदेश, परदेश, इत्यादि रूप में भी (सम्बन्धः दृष्टः) संयोग-सम्बन्ध देखा जाता है। परन्तु इसी प्रकार (देशभेदविकल्पे अपि) भिन्न-भिन्न स्थानों के होते हुए भी (ध्वनिशब्दयोः) ध्वनि और शब्द (स्फोट) का भेद नहीं होता। अर्थात् ध्वनि और शब्द का भी उस उस देश से सम्बन्ध हुआ करता है।

कहने का आशय यह है कि जैसे घर के एक स्थान पर रखे हुये दीपक से भिन्न-भिन्न स्थान में रखी हुई वस्तुयें दिखाई देती हैं और

उपलब्ध होती हैं, उसी प्रकार कानों से सुनी हुई ध्वनियों से हृदयदेश में अपने अर्थ के साथ विद्यमान जो शब्दतत्त्व है, उसका भी परिज्ञान हो जाया करता है। इसलिए मूर्तिमान् वस्तुओं और सूक्ष्म, नेत्रों से अदृश्य शब्द (स्फोट) के ज्ञान में स्थानभेद होते हुए भी कोई भेद नहीं होता। कारण यह है कि शब्द के वर्ण मुख में कण्ठ, तालु, आदि समान स्थान या भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चारित होते हुए भी अवकाश के सर्वत्र व्याप्त होने से कान से सुने गए शब्द की आत्मा का (जो कि हृदय में रहता है) ज्ञान हो जाया करता है।।97।।

जिस प्रकार ग्राह्य और ग्रहण का सम्बन्ध निश्चित हुआ करता है, उसी प्रकार व्यंग्य-व्यञ्जक का, स्फोट और नाद के साथ निश्चित सम्बन्ध होता है, इसको बतलाते हैं।

**ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।**
**व्यंग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः।।98।।**

अन्वयः- यथा ग्रहणग्राह्ययोः नियता योग्यता सिद्धा तथा एव व्यंग्यव्यञ्जकभावेन स्फोटनादयोः (नियता योग्यता सिद्धा इति भावः)।।

व्याख्या- (यथा) जैसे (ग्रहणग्राह्ययोः) ग्रहण करने की शक्ति या योग्यता वाली चक्षु, श्रोत्र, आदि इन्द्रियों का और ग्रहण किये जाने योग्य रूप, शब्द, आदि विषयों का नियत योग्यता वाला सम्बन्ध हुआ करता है, अर्थात् जैसे रूप के ग्रहण करने में चक्षु की ही योग्यता है और शब्द के ग्रहण करने में श्रोत्र की ही योग्यता है (तथा एव) उसी प्रकार (स्फोटनादयोः व्यंग्य-व्यञ्जकभावेन) स्फोट के व्यंग्य और नाद के व्यञ्जक होने से योग्यता नियत और निश्चित हुआ करती है। इसमें व्यत्यास नहीं हुआ करता। जिस नाद से जिस शब्दविशेष (शब्दार्थयुक्त पदार्थ-स्फोट) की अभिव्यक्ति होती है, वह उससे भिन्न शब्द और शब्दार्थ को नहीं अभिव्यक्त करता है। एतावता यह भी गतार्थ होता है कि शब्द का स्वसम्बद्ध अर्थ के साथ नियत या स्वाभाविक सम्बन्ध हुआ करता है। यही बात महाभाष्य (2-1-1) में भी कही गई है।।98।।

न केवल कान से सुने जाने वाले नादविशेष से अभिव्यंग्य शब्द में ही

नियताभिव्यञ्जक की अपेक्षा का नियम है, अपितु नासिका से ग्रहण किये जाने वाले गन्धों में भी यह नियम है। जैसे कि कहा गया है-

**सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्।**
**निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम्॥99॥**

अन्वयः- सदृशग्रहणानाम् गन्धादीनाम् च प्रकाशकम् निमित्तं लोके प्रतिद्रव्यम् नियतम् अवस्थितम्॥

व्याख्या- (सदृशग्रहणानाम्) समान इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले (गन्धादीनाम्) कुंकुमगन्ध, आदि के (प्रकाशकम्) अभिव्यञ्जक, गोघृत, इत्यादि (निमित्तम्) कारण (लोके) संसार में (प्रतिद्रव्यम्) प्रत्येक द्रव्य में (नियतम्) निश्चित (अवस्थितम्) हुआ करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे गाय का घी जहाँ भी रखा जायेगा कुंकुम के गन्ध को ही अभिव्यक्त करता है, न कि पत्थर पर रखे होने पर पत्थर की गन्ध को। और जैसे पाषाण पर रखा जल सत्तू के रस का ही अभिव्यञ्जक होता है न कि पाषाण के गन्ध का। उसी प्रकार नादविशेषों (वर्णों या शब्दों की ध्वनिविशेष) से अभिव्यक्त होने वाले शब्दार्थविशेष का संज्ञान हो जाया करता है॥99॥

उक्त पक्ष में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिस प्रकार लोक में व्यञ्जक प्रदीप, इत्यादि के स्वरूप में वृद्धि या ह्रास होने पर अथवा उनकी संख्या बहुत होने पर उनसे दिखाई देने वाली अभिव्यंग्य घट, इत्यादि वस्तु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, प्रत्युत वह वस्तु प्रकाश के घटने या बढ़ने पर घटती बढ़ती नहीं, किन्तु अपने समान रूप में रहती है, उसी प्रकार शब्द में भी शब्द के उच्चारण काल में ध्वनि-धर्म के अनुसार वृद्धि या ह्रास नहीं होता। अतः व्यंग्यधर्म के न होने से शब्द अभिव्यक्त भी नहीं हो सकेगा? इस आशंका के निवारणार्थ यह कारिका है-

**प्रकाशकानां भेदाँश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते।**
**तैलोदकादिभेदे तत् प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके॥100॥**

अन्वयः- प्रकाशकानाम् भेदान् प्रकाश्यः अर्थः अनुवर्तते। प्रतिबिम्बके तैलोदकादिभेदे (सति) तत् प्रत्यक्षम्॥

व्याख्या- (प्रकाशकानाम्) प्रतिबिम्ब (परछांई) को ग्रहण करने वाले दर्पण अथवा किसी पात्रस्थ या सरोवरस्थ जलों के (भेदान्) उन्नतोदर, नतोदर दर्पण के भेदों और जलतरंगों के भेदों को (प्रकाश्यः अर्थः) अभिव्यक्त होने वाले मुख, चन्द्र, आदि का प्रतिबिम्ब रूप पदार्थ (अनुवर्तते) अनुसरण करता है। (प्रतिबिम्बके) मुख या चन्द्र आदि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाले (तैलोदकादिभेदे) तेल, जल, आदि के भिन्न-भिन्न होने पर (तत् प्रत्यक्षम्) अभिव्यञ्जक तेल, उदक, आदि में विद्यमान श्यामत्वादि प्रत्यक्ष देखा जाता है।

आशय यह है कि जिस प्रकार एक सूर्य या चन्द्र के एक-एक प्रतिबिम्ब होने पर दर्पण या जल, आदि के उपाधिभेद से अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, उसी प्रकार एक ही स्फोटात्मा शब्द व्यञ्जक नादों के अनेक होने पर भी अनेक सा प्रतीत होता है, किन्तु तत्त्वतः वह एक ही रहता है।।100।।

अब प्रश्न होता है कि प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं होता तो दर्पण आदि में पड़ने वाले वस्तु के प्रतिबिम्ब को, जो कि अपूर्व होता है, प्रातिभासिक माना जाय या वास्तविक (व्यावहारिक)? उनमें प्रतिबिम्ब के भासित होने वाले संख्या, परिमाण, आदि प्रतिबिम्बगत भेद क्या बिम्ब के अपने हैं या भिन्न-भिन्न व्यञ्जक धर्मों के कारण हैं? इसका उत्तर देते हैं-

**विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु।**
**पर्वतादिसरूपाणां भावानां नास्ति सम्भवः।।101।।**

अन्वयः- विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु पर्वतादिसरूपाणाम् भावानाम् सम्भवः न अस्ति।।

व्याख्या- (विरुद्धपरिमाणेषु) विरुद्ध है पर्वतादि की अपेक्षा से लघु रूप परिमाण जिनका, उन प्रतिबिम्बों में (वज्रादर्शतलादिषु) पारदर्शी मणि, दर्पण के तलों, आदि में (पर्वतादिसरूपाणानाम् भावानाम्) पर्वत, हस्ती, इत्यादि भारी और विशाल परिमाण वाले पदार्थों का (सम्भवः न अस्ति) उसी दीर्घ परिमाण में उपलब्ध होना सम्भव नहीं है। क्योंकि दर्पण या किसी पारदर्शी छोटी मणि आदि वस्तुओं के तलों में न तो पर्वत के या

हाथी के आकार के बराबर स्थान है और न वे उनमें पूर्ण रूप से समा सकते हैं। इसलिए प्रतिबिम्ब मूल वस्तु (बिम्ब) के अनुरूप सा होते हुए भी परिमाण, आदि में उससे छोटा और सर्वथा भिन्न होता है।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने विभिन्न क्षेत्रों में अद्भुत उन्नति की है। प्रकाश में दीखने वाली वस्तुओं के छायाचित्रों (प्रतिबिम्बों) को सजीव सा बना दिया है। प्रतिबिम्बग्राहकयन्त्रों, विद्युद्यन्त्रों और ध्वनियन्त्रों की ऐसी अद्भुत संगति दर्शायी है कि सिनेमा हो, टेलीविजन हो या कम्प्यूटर पर इण्टरनेट और कैमरे की सहायता से प्रकट होने वाले चित्र हों, वे चलते, फिरते और बात करते हुए देखे जा सकते हैं। उनको अव्यावहारिक होते हुए भी व्यावहारिक सा और प्रातिभासिक होते हुए भी अप्रातिभासिक सा कहा जा सकता है, क्योंकि उनसे हम बौद्धिक कार्य तो बहुत से सिद्ध कर लेते हैं किन्तु उन्हें हाथ से पकड़ नहीं सकते, जैसे कि छाया को नहीं पकड़ सकते। अतः सिद्ध होता है कि ऊपर के श्लोक में प्रतिपादित सिद्धान्त आज भी यथार्थ है, अयथार्थ नहीं।।101।।

प्रश्न होता है कि स्फोट के एक होने से वर्ण, पद, वाक्यों में पौर्वापर्यव्यवहार, ह्रस्वदीर्घप्लुतादिव्यवहार और द्रुतमध्यमविलम्बितादि व्यवहार कैसे संगत होगा? उत्तर देते हैं,

**तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु।**
**वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद् विभज्यते।।102।।**

अन्वयः- तस्मात् अभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु वृत्तिकालः स्वकालः च नादभेदात् विभज्यते।।

व्याख्या- (तस्मात्) इस कारण से कि स्फोट केवल एक होता है (अभिन्नकालेषु) अभिन्न काल वाले (वर्णवाक्यपदादिषु) वर्णों, पदों, वाक्यों और महावाक्यों (वाक्यसमुदायों) में (वृत्तिकालः) द्रुत, मध्यम, विलम्बित वृत्ति का काल, (स्वकालः) ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का भिन्न-भिन्न काल (च) और वर्ण, पदादि के पौर्वापर्य का काल अथवा आनुपूर्वी का भिन्न-भिन्न काल केवल (नादभेदात्) नाद अर्थात् ध्वनि के भेद भिन्न-भिन्न होने से (विभज्यते) विवेचित किया जाता है। उच्चारण ही सारे भेदों का हेतु है।

उच्चारण में नाद या ध्वनि के भिन्न-भिन्न होने से वर्ण, पद, वाक्यादि में यह पूर्व है, यह पर है, यह ह्रस्व है, यह दीर्घ है, यह द्रुत (तीव्र) वृत्ति है, यह मध्यम वृत्ति है और यह विलम्बित वृत्ति है, इस प्रकार के सारे व्यवहार हुआ करते हैं।।102।।

अब ध्वनि और स्फोट का भेद अनित्यतावादियों के मत में कैसा है, यह दर्शाते हैं।

**यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।**

**स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।।103।।**

अन्वयः- यः संयोगवियोगाभ्याम् करणैः (च) उपजन्यते, सः स्फोटः, शब्दजाः शब्दाः ध्वनयः अन्यैः उदाहृताः।।

व्याख्या- (यः) जो (संयोगवियोगाभ्याम् करणैः च उपजन्यते) स्थान और करणों के संयोग और विभाग से सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट कहलाता है। उससे (शब्दजाः शब्दाः ध्वनयः) उत्पन्न होने वाले अन्य शब्दों की द्रुत-मध्यम-विलम्बित वृत्तियों के भेद के कारणभूत वैकृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा (अन्यैः) अन्य नैयायिकों के द्वारा (उदाहृताः) कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि तालु, आदि स्थानों और जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य, मूल, आदि करणों के संयोग और विभाग द्वारा जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, और दशों दिशाओं में सुनाई देती हैं, उनसे अभिव्यंग्य स्फोट रूप शब्द तो नित्य है और एक ही है, किन्तु शब्दों के निरन्तर उच्चारण से जो ध्वनियाँ क्रमिक रूप में उत्पन्न होती हैं, वे अनित्य होने से कार्य कहलाती हैं, और वे ही शब्दों की द्रुत आदि वृत्तियों के हेतु भी होती हैं।।103।।

अब ध्वनियों के प्राकृत-वैकृत भेदों को दर्शाते हैं-

**अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न विद्यते।**

**परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः।।104।।**

अन्वयः- अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालः न भिद्यते। तु परः शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः।

व्याख्या- (अल्पे महति वा शब्दे) शब्द के अल्प-ह्रस्व या महान्,

दीर्घ और प्लुत के उच्चारण करने से (स्फोटकाल न भिद्यते) स्फोट का काल परिवर्तित नहीं हुआ करता, क्योंकि स्फोट एकक्षणावस्थायी हुआ करता है। दूसरी ओर (परः तु) स्फोट से भिन्न जो (शब्दसन्तानः) शब्द की ध्वनियों का जो फैलाव है, वह (प्रचयापचयात्मकः) बढ़ता-घटता रहता है। जैसे कि दीर्घ और प्लुत के द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उच्चारण में बढ़ता है और ह्रस्व के एकमात्रिक उच्चारण में घटता है। इसमें ध्वनि का पूर्वरूप प्राकृत और उत्तर रूप जो कर्णगोचर होता है, वैकृत कहलाता है।।104।।

**दूरात् प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते।**
**घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते।।105।।**

अन्वयः- ध्वनिमात्रं तु दीपस्य प्रभा इव दूरात् लक्ष्यते। घण्टादीनाम् च शब्देषु सः भेदः व्यक्तः दृश्यते।।

व्याख्या- (ध्वनिमात्रम् तु) शब्द के उच्चारण में प्रथमतः नाद या ध्वनि ही (दीपस्य प्रभा इव) दीपक के प्रकाश के समान (दूरात् लक्ष्यते) दूर से पहले सुनी जाती है और स्फोट उसके पश्चात्। (घण्टादीनाम् च) बड़े घण्टे और छोटी घण्टी के (शब्देषु) नादों या ध्वनियों में (सः भेदः) दूर से और समीप से सुनाई देने वाले भेद, जैसे कि दूर से ध्वनि का मन्द सुनाई देना और समीप से तीव्र सुनाई देना (व्यक्तः) स्पष्ट रूप से (दृश्यते) देखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शब्द के उच्चारण के क्षण में श्रोता को कान में ध्वनि सुनाई देने पर ही तदनन्तर शब्दार्थ (स्फोट) का परिज्ञान हुआ करता है, उससे पूर्व नहीं।।105।।

अब प्राकृत और वैकृत ध्वनि की विशेषता दर्शाते हैं-

**द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।**
**कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः।।106।।**

अन्वयः- द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतौ (भवतः) कम्पे उपरते तु जाताः नादाः वृत्तेः विशेषकाः।।

व्याख्या- (द्रव्याभिघातात्) द्रव्य के अभिघात से, अर्थात् शब्द के उच्चारण में तालु, आदि स्थानों एवं करणों के जिह्वा के अग्रभाग से

टक्कर होने से जो कम्पन वायु में उत्पन्न होता है, उसकी (प्रचितौ) वृद्धि के तारतम्य से (भिन्नौ दीर्घप्लुतौ) दीर्घ और प्लुत स्वरों की उत्पत्ति होती है, जो कि परस्पर भिन्न होते हैं। आघात के लघु और एकमात्रकालिक होने पर ह्रस्व स्वर की उत्पत्ति होती है और (कम्पे उपरते तु) कम्पन के रुक जाने पर (जाताः नादाः) पूर्व उत्पन्न हुए नादज-नाद अर्थात् प्राकृत ध्वनियाँ (वृत्तेः विशेषकाः) द्रुत, मध्यम, विलम्बित वृत्तियों की व्यवस्था के हेतु हुआ करते हैं। और वे ही ध्वनियाँ स्फोट के अनुग्राहक हुआ करती हैं।।106।।

इस विषय में मतभेद दर्शाते हैं-

**अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे।**
**स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव।।107।।**

अन्वयः- अपरे ध्वनयः करणे अनवस्थितकम्पे अपि स्फोटात् एव उपजायन्ते इव ज्वालाः ज्वालान्तरात्।

व्याख्या- (अपरे ध्वनयः) दूसरी वैकृत नामक ध्वनियाँ (करणे) तालु आदि स्थानों में जिह्वा के अग्रभाग और उसके समीप में (अनवस्थित कम्पे अपि) निरन्तर होने वाले, अनुवर्तमान कम्प के न होने पर भी (स्फोटात् एव) स्फोट से ही (उपजायन्ते) उत्पन्न होती हैं (इव) जैसे कि (ज्वालाः) अग्नि की ज्वालायें (ज्वालान्तरात्) अन्य अग्निज्वालाओं के सम्पर्क से बढ़ती चली जाती हैं। अर्थात् अग्निज्वालाओं की क्रमिक वृद्धि के समान ही नाद से उपजे हुये कम्पयुक्त वैकृत नामक द्वितीय, तृतीय नाद आगे बढ़ते रहते हैं और क्रमशः द्रुत, मध्यम, विलम्बित ध्वनियों को प्रकाशित किया करते हैं।।107।।

अब शब्द के स्वरूप के विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख करते हैं-

**वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।**
**कैश्चिद् दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितिः।।108।।**

अन्वयः- कैश्चिद् वायोः शब्दत्वापत्तिः इष्यते, (कैश्चिद् वा) अणूनाम्, (कैश्चिद् वा) ज्ञानस्य, हि प्रवादेषु अनवस्थितिः (अतः) दर्शनभेदः।।

व्याख्या- (कैश्चिद्) कुछ आचार्यों को (वायोः) वायु का

(शब्दत्वापत्तिः) शब्द रूप में परिणत या प्राप्त होना मान्य है, (कैश्चित्) कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि (अणूनाम्) परमाणुओं का ही परिणाम शब्द है, और (कैश्चिद्) कुछ उनसे भी भिन्न आचार्यों का मानना है कि (ज्ञानस्य) ज्ञान का ही रूपान्तर शब्द होता है। (हि) क्योंकि (प्रवादेषु) इन विभिन्न प्रवादों-प्रवचनों में (अनवस्थितिः) एकरूपता या निश्चितता नहीं है अतः (दर्शनभेदः) यह सब दृष्टियों-विचारों के भेदमात्र हैं, यही समझना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शब्द की उत्पत्ति या उपादान कारण के रूप में वैयाकरण विद्वानों में तीन प्रकार के मत प्रचलित हैं, जैसे कि कोई आचार्य वायु को शब्द का मूल मानते हैं, कोई अणुओं को और कोई ज्ञान को। इस प्रकार इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं।

यहाँ पर अन्तिम पक्ष ही ग्रन्थकार का स्वमत है, ऐसा आगे की 113वीं और 124वीं कारिकाओं से जाना जाता है। उल्लेखनीय है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि के मत मे भी ज्ञान ही शब्द रूप में परिणत होता है, यह इष्ट है, जैसा कि उन्होंने 'आख्यातोपयोगे' (अ01-4-29) सूत्र की व्याख्या में लिखा है- 'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति' अर्थात् ज्ञान अग्नि की निरन्तर जल रही ज्वाला के प्रकाश के समान होते हैं, जो कि वक्ता से श्रोता के मस्तिष्क में अपक्रान्त होकर उसको उद्दीप्त करते हैं और श्रोता उस ज्ञान को अपने में धारण कर लेता है।।108।।

वायु किस प्रकार शब्दाकार को प्राप्त होता है, इस विषय पर कहते हैं-

**लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।**
**स्थानेष्वभिहतो वायुं शब्दत्वं प्रतिपद्यते।।109।।**

अन्वयः- वक्तुः इच्छानुवर्तिना प्रयत्नेन लब्धक्रियः वायुः स्थानेषु अभिहतः शब्दत्वम् प्रतिपद्यते।।

व्याख्या- (वक्तुः इच्छानुवर्तिना प्रयत्नेन) वक्ता की इच्छानुसार होने वाले प्रयत्न से (लब्धक्रियः) क्रिया अर्थात् स्पन्दन को प्राप्त होने वाला (वायुः) वायु नामक पदार्थ (स्थानेषु अभिहतः) कण्ठ, तालु आदि स्थानों

में टकराता हुआ (शब्दत्वम् प्रतिपद्यते) शब्द की प्रकृति का निमित्त बनता है, अर्थात् शब्दरूप में परिणत होता है और व्यवहृत किया जाता है। इसमें यह दृष्टान्त है कि मेघस्थ वायु का पारस्परिक आघात ही वज्रनिर्घोष को उत्पन्न करता है। इस तथ्य को अग्नि पुराण में इस प्रकार कहा गया है-

यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुता हतः।
जायते तत्र निर्घोषो बलवान् वायुसम्भवः।।

वायु के शब्दमूलक होने पर 'क' 'ख' इत्यादि वर्णों की उत्पत्ति कैसे होती है, इसको बतलाते हैं-

**तस्य कारणसामर्थ्याद् वेगप्रचयधर्मिणः।**
**संनिपाताद् विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्तयः।।110।।**

अन्वयः- वेगप्रचयधर्मिणः तस्य संनिपातात् कारणसामर्थ्यात् सारवत्यः अपि मूर्तयः विभज्यन्ते।।

व्याख्या- (वेगप्रचयधर्मिणः) जिसमें वेग- तीव्रगति और प्रचय- वृद्धि रूप धर्म रहते हैं, ऐसे (तस्य) उस वायु के (संनिपातात्) कण्ठ, तालु, आदि स्थानों में अभिघात से (कारणसामर्थ्यात्) प्रयत्न, आदि कारणों के सामर्थ्य अर्थात् सम्बन्ध से (सारवत्यः अपि मूर्तयः) साररूप अर्थात् घनीभूत मूर्तियाँ (विभज्यन्ते) क, ख, इत्यादि वर्णों के रूप में विभक्त हो जाती हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार एक मिट्टी का ढेला किसी कठोर पत्थर पर टकराने से विभिन्न टुकड़ों में बिखर जाता है, उसी प्रकार घनीभूत वायु भी कण्ठ, तालु, आदि स्थानों में टकराकर क, ख, ग, आदि वर्णों के रूप में विभक्त हो जाता है।।110।।

अब अणु कैसे शब्दरूप में परिवर्तित होते हैं, इसको बतलाते हैं-

**अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।**
**छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः।।111।।**

अन्वयः- अणवः भेदसंसर्गवृत्तयः सर्वशक्तित्वात् छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः।।

व्याख्या- (अणवः भेदसंसर्गवृत्तयः) अणुओं की वृत्ति दो प्रकार की होती है। एक भेद रूप वृत्ति, जिसमें कि परस्पर भिन्नता बनी रहती है,

एक अणु दूसरे से पृथक् रहता है और दूसरी संसर्गरूप वृत्ति, जिसमें कि अणु परस्पर मिलकर ही रहते हैं और प्रयोजन सिद्ध करते हैं। (सर्वशक्तिवात्) सब प्रकार के सामर्थ्य वाले होने से (छायातपतमः शब्दभावेन) जिस प्रकार प्रकाश के होने पर आतप तथा छाया का अस्तित्व होता है, और उसके न होने पर अन्धकार हुआ करता है, उसी प्रकार (परिणामिनः) त्रिविधा परिणाम वाले ये अणु हुआ करते हैं।

यहाँ पर अणु या परमाणु से तात्पर्य वैशेषिकमतानुसारी पार्थिव, आप्य, तैजस और वायव्य परमाणुओं से न होकर सांख्यशास्त्रानुसारी रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्र से है, ऐसा व्याख्याकारों का अभिमत है। इन परमाणुओं के नील, शुक्ल, दो भेद हैं। इनमें नील परमाणु छाया और तमः रूप हैं और शुक्ल परमाणु प्रकाश रूप हैं। जब यही मिलकर संसर्ग वृत्ति से रहते हैं, तब कत्वखत्वादि रूप में विभक्त होते हैं और जब पृथक् भेदवृत्ति से रहते हैं तब परमाणु रूप में ही अवस्थित रहते हैं, यह तात्पर्य है।।111।

प्रश्न होता है कि अणुओं के सदा विद्यमान होने से सदा ही इनका परिणाम क्यों नहीं होता? उत्तर में कहते हैं-

**स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।**

**अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः।।112।।**

अन्वयः- प्रयत्नेन समीरिताः स्वशक्तौ व्यज्यमानायाम् शब्दाख्याः परमाणवः प्रचीयन्ते अभ्राणि इव।।

व्याख्या- (प्रयत्नेन समीरिताः) अर्थ को बतलाने की इच्छा से प्राणवायु के आन्तरिक प्रयत्न से प्रेरित हुए, इसीलिए (स्वशक्तौ) परिणाम को उत्पन्न करने वाली शक्ति के (व्यज्यमानायाम्) व्यक्त होने पर (शब्दाख्याः परमाणवः) घट, पट, इत्यादि स्वरूप वाले शब्द के परमाणु (प्रचीयन्ते) एकत्र होने लगते हैं (अभ्राणि इव) जैसे कि वर्षाकाल में आकाश में बिखरे हुए जलकण वायु के द्वारा घनीभूत होकर मेघों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार जब भी प्रयत्नपूर्वक प्रेरित शब्दपरमाणु होते हैं तभी व्यक्त शब्द के रूप में परिणत होते है, न कि सदैव।।112।।

अब ज्ञान किस प्रकार शब्दरूप में परिणत होता है, इसको बतलाते हैं-

**अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।**
**व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन निवर्तते॥113॥**

अन्वयः- अथ इदम् आन्तरम् ज्ञानम् सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् स्वस्य रूपस्य व्यक्तये शब्दत्वेन निवर्तते (अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः, इति चात्र पाठान्तरम्, विवर्तते इति च श्लोकान्ते भिन्नपाठः)॥

व्याख्या- (अथ) अब विचार होता है कि (इदम्) यह प्रत्येक मनुष्य में प्रत्यक्ष अनुभूत होने वाला (आन्तरम् ज्ञानम्) अन्तःकरण या आत्मा में रहने वाला वस्तुनिष्ठ ज्ञान (सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्) परा-पश्यन्ती-मध्यमा के रूप में वागिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय का भी अविषय बना हुआ अतिसूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है (पाठान्तर के अनुसार, यह शरीरान्तर्वर्ती हृदयाकाश में विद्यमान जीवात्मा इन्द्रियातीत वागात्मा- कत्व, खत्व, पदत्व, वाक्यत्व रूप शब्दात्मा के अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में रहता हुआ) (स्वस्य रूपस्य व्यक्तये) अपने ज्ञानस्वरूप को दर्शाने के लिए (शब्दत्वेन निवर्तते) शब्दरूप को प्राप्त होता है अथवा विवृत होता है।

यहाँ पर जीव और जीवगतज्ञान में अभेद मानने पर उक्त दोनों पाठ युक्त से यद्यपि लगते हैं तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भर्तृहरि के मत में ज्ञान ही शब्दरूप में परिणत होता है, और ज्ञान तथा शब्द का परस्पर अविनाभाव नित्य सम्बन्ध है। क्योंकि आगे वे 124वें श्लोक में इसी सिद्धान्त को और स्पष्ट करते हुए कहते है- 'न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। इति॥113॥

यह आन्तर ज्ञान किस प्रकार शब्दरूप में परिणत होता है, उसको बतलाते हैं-

**स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।**
**वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥114॥**

अन्वयः- सः मनोभावम् आपद्य तेजसा पाकम् आगतः प्राणम् वायुम् आविशति अथ असौ समुदीर्यते॥

व्याख्या- (सः) वह ज्ञान से अभिन्न अन्तःकरणस्थित सूक्ष्म शब्द ही

(मनोभावम्) इच्छायुक्त मन (जो कि वस्तु को जानने वाला है) के भाव को (आपद्य) प्राप्त होकर (तेजसा) शरीरस्थ अग्नि द्वारा (पाकम् आगतः) परिपक्व सा हुआ नाभिस्थ अग्नि से ऊपर उठकर (प्राणम् वायुम् आविशति) हृदयस्थित प्राण वायु में प्रविष्ट होता हैं (अथ) तदनन्तर (असौ) वह मन शब्द बनकर (उदीर्यते) उच्चारित होता है। ज्ञातव्य है कि यही बात महर्षि पाणिनि ने शिक्षाशास्त्र में भी कही है। यथा,

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ।।इति।।

इसी बात को और स्पष्ट करते हैं-

**अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।**
**तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते।।115।।**

अन्वयः- अन्तःकरणतत्त्वस्य आश्रयताम् गतः वायुः तद्धर्मेण समाविष्टः तेजसा एव विवर्तते।।

व्याख्या- (अन्तःकरणतत्त्वस्य) हृदयस्थित अन्तःकरण के सारभूत जीवात्मा के (आश्रयताम् गतः) आश्रय को प्राप्त हुआ (वायुः) प्राणवायु है। क्योंकि जीव की आत्मा, अन्तःकरण और प्राणवायु साथ-साथ रहते हैं। मन शान्त होने पर भी प्राणवायु का हृदय में संचरण जीव के अस्तित्व का प्रत्यायक है। इसीलिए मृत देह में प्राणवायु न होने पर अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारसहित जीवात्मा) भी नहीं होता। वह प्राण वायु ही (तद्धर्मेण) अन्तःकरण के ज्ञानरूप शब्द के धर्म (गुण) से (समाविष्टः) संयुक्त होता हुआ (तेजसा एव) कायाग्नि से ही (विवर्तते) शब्दरूप में अभिव्यक्त होता है।।115।।

वह प्राणवायु किस प्रकार शब्द में परिणत होता है, इसको दर्शाते हैं-

**विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।**
**प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते।।116।।**

अन्वयः- प्राणः स्वात्मनः ग्रन्थीन् विभज्य पृथग्विधैः श्रुतिरूपैः वर्णान् अभिव्यज्य वर्णेषु एव उपलीयते।।

व्याख्या- (प्राणः) प्राणवायु (स्वात्मनः ग्रन्थीन्) शब्द की ग्रन्थियों-ककारादि वर्णों को (विभज्य) विभक्त करके (पृथग्विधैः श्रुतिरूपैः वर्णान्) नाना प्रकार के पृथक्-पृथक् सुनाई देने वाली अ, इ, उ, ऋ, क, ख, ग, इत्यादि वर्णों को (अभिव्यज्य) अभिव्यक्त करके अर्थात् उत्पन्न करके स्वयं भी (वर्णेषु एव) उन उच्चारित वर्णों में ही (उपलीयते) उपलीन हो जाता है, पृथक् नहीं रहता। इससे ध्वनित होता है कि वर्णोच्चारण अथवा शब्दोच्चारण के समय प्राणवायु का ही विशेष कार्य होता है, अन्यत्र तो वह श्वास-प्रश्वास, शरीरधारणादि कार्यों को निरन्तर करता रहता है।।116।।

शब्द की वृत्ति निरन्तर रहते हुए भी निमित्तवशात् प्रतीत होती है, इस मत को दर्शाते हैं-

**अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वाच्चोपलभ्यते।**
**व्यञ्जनाद् वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रतीयते।।117।।**

अन्वयः- अजस्रवृत्तिः शब्दः यः सूक्ष्मत्वात् च उपलभ्यते स व्यञ्जनाद् इव वायुः स्वनिमित्तात् प्रतीयते।।

व्याख्या- (अजस्रवृत्तिः यः शब्दः) निरन्तर अपनी वृत्ति अर्थात् सत्ता को धारण करने वाला जो शब्द (सूक्ष्मत्वात्) अतिसूक्ष्मरूप होने से (उपलभ्यते) सर्वत्र उपलब्ध होता है ('नोपलभ्यते' यह भी यहाँ पर पाठान्तर है, जिसके अनुसार हृदयगुहास्थित सूक्ष्मवाक् अदृश्य, अज्ञात, अश्रुत, अनभिव्यक्त होने से अनुच्चारणदशा में अनुपलब्ध होती है, यह अर्थ भी युक्त है)। (सः) वह (व्यञ्जनाद् इव वायुः) पंखा चलाने से जैसे वायु, उसी प्रकार (स्वनिमितात्) प्रयत्नपूर्वक उच्चारण करने से (प्रतीयते) श्रुतिगम्य होकर प्रकाशित होने लगता है। यह दृष्टान्त शब्दनित्यत्वपक्ष का पोषक है।।117।।

प्रश्न होता है कि उक्त रीति से शब्दों में परस्पर भेद नहीं होना चाहिए जब कि भेद होता है। यह क्यों और कैसे? इसके उत्तर में कहते हैं-

**तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।**
**विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते।।118।।**

अन्वय:- तस्य प्राणे च या शक्तिः या च बुद्धौ व्यवस्थिता सा एषा स्थानेषु विवर्तमाना भेदं प्रपद्यते।।

व्याख्या- (तस्य) उस शब्द की (प्राणे) प्राणवायु में (या शक्तिः) जो शक्ति होती है (च) और (या च बुद्धौ) जो शक्ति बुद्धि में (व्यवस्थिता) रहती है (सा एषा) वह शक्ति ही (स्थानेषु) कण्ठतालु आदि स्थानों में (विवर्तमाना) वर्णों के रूप में परिवर्तित होती हुई (भेदम्) क, ख, ग, इत्यादि वर्णों के स्फुट भेद को (प्रपद्यते) प्राप्त होती है।।118।।

शब्द ही जगत् का कारण है, इस विषय को पुनः दृढता से प्रतिपादन करते हैं-

**शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।**
**यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते।।119।।**

अन्वय:- अस्य विश्वस्य निबन्धिनी शक्तिः शब्देषु एव आश्रिता यन्नेत्रः अयम् प्रतिभात्मा भेदरूपः प्रतीयते।।

व्याख्या- (अस्य विश्वस्य) इस प्रत्यक्षाप्रत्यक्षात्मक जगत् को (निबन्धिनी) नितरां बाँधने वाली वाच्यवाचक भाव की नियामक (शक्तिः) वाच्यवाचकभाव रूप शक्ति (शब्देषु एव आश्रिता) शब्दों में ही आश्रित रहती है। जैसे 'गो' इस शब्द का सास्नादिमान् अर्थ है, इस प्रकार के नियत वाच्यार्थ के लिए नियत वाचक शब्द के सम्बन्धयुक्त शक्ति शब्दों में ही रहती है, (यन्नेत्रः) जिस शब्दशक्तिरूप नेत्र वाला (अयम् प्रतिभात्मा) यह ज्ञान के प्रकाश वाला शब्दात्मा (भेदरूप) गौ, अश्व, मनुष्य, आदि अनेक वाच्यभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। क्योंकि यदि उस उस प्रकार के अर्थ सम्बन्धी शक्ति शब्द में नहीं होती तो गो शब्द के उच्चारण से गोपदार्थ का बोध नहीं होता। अतः तत् तत् अर्थ की बोधक शक्ति उस उस वाचक शब्द में निहित है और इसका ज्ञान भी मनुष्य की बुद्धि में पहले से ही रहता है। इस विषय को पहले के वैयाकरणों ने इस प्रकार वर्णित किया है-

वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते।।

इस वाच्यवाचकभेदभिन्न संसार की निबन्धिनी- उत्पन्न करने वाली शक्ति सूक्ष्म वाक्तत्त्व में किस प्रकार आश्रित रहती है और किस क्रम से उस क्रमरहित वागात्मा का वाच्यवाचक उभयरूप विवर्त या परिणाम हुआ करता है? इस जिज्ञासा का उत्तर है- यह वाच्यवाचक उभयरूप विषय जब नष्ट होता है तो शक्तिरूप से अपनी-अपनी ग्राहक इन्द्रिय में प्रविलीन हो जाता है और उस प्रकार की शक्ति वाली इन्द्रियों के नष्ट होने पर स्वकारण रूप शक्तिशाली वृत्तिभेद से भिन्न-भिन्न बुद्धियों में लीन हो जाती हैं और उस प्रकार की बुद्धियाँ भी प्रविनष्ट होने पर शक्ति रूप में क्रम को सिमटे हुए सूक्ष्म वाक्तत्त्व में प्रविलीन हो जाती हैं। इस प्रकार अन्ततः इस विश्व का सूक्ष्म वाक्तत्त्व में प्रविलय होता है। इसके विपरीत सृष्टिकाल में सूक्ष्म वाकतत्त्व से अनेक वृत्तियों वाले बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है, बुद्धियों से इन्द्रियों की और इन्द्रियों से विषयों की उत्पत्ति होती है। ये विषय ही वाच्यवाचकोभयात्मक होते हैं। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का अधिष्ठान होने से उपादानकारणरूप प्रतिसंहृतक्रम वाला सूक्ष्म वाक्तत्त्व ही सबका मूल है, यह प्रकृत कारिका का भाव है।।119।।

शब्दाधीन ही सारा व्यवहार होता है, इसको पुनः दर्शाते हैं-

**षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।**
**तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्राः सुनिश्चिताः।।120।।**

अन्वयः- षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातः यतः रूप्यते। तस्मात् सर्वाः अर्थविधाः शब्दमात्राः सुनिश्चिताः।।

व्याख्या- (षड्जादिभेदः) संगीत शास्त्र में वर्णित षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद नामक सात स्वर (शब्देन व्याख्यातः) शब्द से नामविशेष से ही व्याख्यात होते हैं, (यतः रूप्यते) इन विभिन्न स्वरों का निरूपण विना संज्ञा के नहीं होता। जो संगीतशास्त्रज्ञ है, वह गायन के ध्वनिविशेष से षड्जादि के भेद को पहचानता है और नाम से तदनुरूप स्वर निकाल लेता है, जब कि संगीत से अनभिज्ञ को इनका कोई ज्ञान नहीं होता। इससे शब्दशक्तिमात्र के आधार पर ये षड्जादिभेद उपपन्न होते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कहा गया

है- (तस्मात् सर्वाः अर्थविधाः शब्दमात्राः सुनिश्चिताः) सभी अर्थों के भेदों और स्वरूपों का निर्णय शब्दमात्र के अधीन है और शब्द से ही हुआ करता है, अर्थात् शब्द के विना कोई भी वस्तु नहीं जानी जा सकती है, शब्द ही अर्थों का प्रकाशक है।।120।।

शब्द का ही परिणाम यह विश्व है और वह शब्द वेदरूप है, इसे दर्शाते हैं-

**शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।**
**छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।।121।।**

अन्वयः- अयम् शब्दस्य परिणामः इति आम्नायविदः विदुः। एतद् विश्वम् प्रथमम् छन्दोभ्यः एव व्यवर्तत।।

व्याख्या- (अयम्) यह संसार (शब्दस्य परिणामः) शब्द का परिणाम है, शब्द से उत्पन्न हुआ है, (इति) ऐसा (आम्नायविदः) वेदविद् विद्वान् (विदुः) जानते हैं। (एतत् विश्वम्) यह जगत् (प्रथमम्) सृष्टि के आदि में (छन्दोभ्यः एव) वेदों से ही (व्यवर्तत) उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चारों वेदों के शब्द रूप होने से और स्वयम् वेद में वर्णित होने से ऐसा कहा जाता है, जैसे कि मन्त्र है-

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वमसृजत यच्च मर्त्यम्।।' अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह।।' इति। अन्यत्र भी कहा गया है- 'स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वैराजः पुरुषः। पुरुषो वै लोकः। पुरुषो यज्ञः। तस्यैता लोकम्पृणास् तिस्र आहुतयस्ता एव त्र्यालिखिता वै त्रयो लोकाः।' इति। और भी- 'एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमो वैराजः पुरुषो योऽन्नमसृजत तस्मात् पशवोऽन्वजायन्त। पशुभ्यो वनस्पतयः। वनस्पतिभ्योऽग्निः, इत्यादि। स्मृति में भी कहा गया है-

विभज्य बहुधात्मानं सच्छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बहुधैव विवेशितम्।।

यह करना है, यह नहीं करना है, इत्यादि विधिनिषेधात्मक सम्पूर्ण लोक-व्यवहार शब्द के अधीन ही हुआ करता है, इसको बतलाते हैं-

**इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।**
**यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥122॥**

अन्वयः- लोके सर्वा इतिकर्तव्यता शब्दव्यपाश्रया। याम् पूर्वाहितसंस्कारो बालः अपि प्रतिपद्यते॥

व्याख्या- (लोके) संसार में (सर्वा) सब प्रकार की (इतिकर्तव्यता) ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए- इस प्रकार का विधिप्रतिषेधात्मक व्यवहार (शब्दव्यपाश्रया) शब्दों के आश्रय पर अर्थात् शब्दों के द्वारा ही हुआ करता है। (याम्) इस इतिकर्तव्यता रूप व्यवहार को (पूर्वाहितसंस्कारः) जन्म-जन्मान्तर से सञ्चित हुए संस्कारों वाला (बालः अपि) बालक भी अपने माता-पिता से सुन-सुनकर विदित हुए शब्दार्थसम्बन्धगत सारे व्यवहार को सीख लेता है, जान लेता है। मनुष्य भाषागत शब्दों से व्यवहार में प्रवृत्त होता है। ये शब्द सुनने-सुनाने से उसे सदा से ज्ञात होते रहे हैं। अतः जन्मान्तरप्राप्त संस्कार का प्रतिबुद्ध होना वर्तमान जन्म में सम्भव है॥122॥

मुख के भीतर बोलने के लिए सारी चेष्टायें शब्द की भावना पर ही आधारित होती हैं, इसको बतलाते हैं-

**आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।**
**स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्॥123॥**

अन्वयः- शब्दभावनाम् विना आद्यः करणविन्यासः, प्राणस्य ऊर्ध्वम् समीरणम् स्थानानाम् अभिघातः च न (भवतीति शेषः)॥

व्याख्या- (शब्दभावनाम् विना) पूर्व जन्मों में हुए शब्दाभ्यास के फलस्वरूप अन्तःकरण में जो शब्दों के उच्चारण करने का संस्कार सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है, वही शब्द की भावना है। उस शब्दभावना के विना (आद्यः) सबसे प्रथम (करणविन्यासः) इन्द्रियों को प्रेरित करना, जैसे कि शब्द को सुनने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय की सावधानता का होना और स्वयं शब्दों के उच्चारण करने में (प्राणस्य) प्राणवायु का (ऊर्ध्वम् समीरणम्) नाभिप्रदेश से ऊपर को हृदय, कण्ठ और मुख की ओर उत्प्रेरित होना (च) और (स्थानानाम् अभिघातः) तालु, मूर्द्धा, आदि स्थानों

में वायु एवं जिह्वेन्द्रिय का संयोग होना (न) नहीं सम्भव है। अतः शब्द के श्रवण और उच्चारण दोनों कालों में सद्योजात शिशु में भी सूक्ष्म रूप से शब्दभावना बनी रहती है, यह फलितार्थ है।।123।।

समस्त ज्ञान शब्द द्वारा हुआ करता है, इसको दर्शाते हैं-

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**
**अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।124।।**

अन्वयः- लोके सः प्रत्ययः न अस्ति यः ऋते शब्दानुगमात् (भवति, अतः) सर्वम् ज्ञानम् शब्देन अनुविद्धम् इव भासते।।

व्याख्या- (लोके) संसार में (सः) ऐसा कोई (प्रत्ययः) ज्ञान (न अस्ति) नहीं है, (यः) जो (ऋते) विना (शब्दानुगमात्) शब्द का आश्रय लिए हुआ करता है। वस्तुतः (सर्वम् ज्ञानम्) सारा ज्ञान (शब्देन अनुविद्धम् इव) शब्द से अन्वित हुआ सा, अथवा अभिव्यक्ति के लिए शब्द रूप में परिणत हुआ सा (भासते) प्रकाशित हुआ करता है। जैसे कि 'अयं गौः'-यह गाय है, इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में जहाँ गाय देखी जा रही हो, वहाँ भी पहले 'अयम्' शब्द का प्रत्यक्षताबोधक अर्थ और इसी प्रकार नियतार्थक 'गौः' शब्द का गलकम्बलादि लक्षण वाला चतुष्पात् पशु, यह संकेतित अर्थ शब्द के श्रवणमात्र से मन में शब्दशक्ति से गृहीत शब्दार्थ की स्मृति द्वारा होता है। अतः सर्वत्र शब्द की भावना के अनुरूप ही अर्थ (सांसारिक वस्तु) का ज्ञान होता है उसके विना नहीं, यह स्पष्ट है।।124।।

पुनः इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं-

**वागूरूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।**
**न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।125।।**

अन्वयः- अवबोधस्य शाश्वती वागूरूपता सा उत्क्रामेत् चेत् प्रकाशः न प्रकाशेत हि सा प्रत्यवमर्शिनी।।

व्याख्या- (अवबोधस्य) सविकल्पक सविषयक ज्ञान की (शाश्वती) सदा रहने वाली (वागूरूपता) शब्दरूपता, शब्दानुगतता, जैसे कि ज्ञान में स्वप्रकाशता जो है, वही उसका स्वरूप है। उसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान

के शब्दानुगत होना भी उसका अपना स्वरूप है जो कि नित्यसम्बन्ध से सदा बना रहता है, (सा उत्क्रामेत् चेत्) वह ज्ञान में रहने वाली शब्दानुगतता यदि कभी नष्ट भी हो जाये तो (प्रकाशः) ज्ञान (न प्रकाशेत) विषय का अवधारण या निश्चय न कर सकेगा (हि) क्योंकि (सा) वह वाग्रूपता, ज्ञान का शब्दानुगत होना ही (प्रत्यवमर्शिनी) सविकल्पक सविषयक ज्ञान को सम्पादित करने वाली है। जैसे कि 'घटो अयम्' यह घड़ा है- ऐसा ज्ञान घड़े को देखकर किसी को तभी होता है जब कि वह घट या घड़ा शब्द के अर्थ को भी जानता हो। इसलिए वाचकता से शब्द भी विषय बनता है। अन्यथा घट शब्द में घट अर्थ के प्रति वाच्यवाचक भाव का ज्ञान न होने पर घट को देखने पर भी यह क्या है? इस प्रकार का सन्देह बना रहेगा। इसलिए ज्ञान में शब्दानुगतता का होना ही ज्ञान को सविकल्पक और सविषयक सिद्ध करना है। अतः वाचक शब्द, वाच्य अर्थ और वाच्यवाचकसम्बन्ध कि इस शब्द का इस अर्थ के साथ सम्बन्ध है, यह ज्ञान ही वस्तुनिर्धारण और लोक-व्यवहार को सिद्ध करने का हेतु है, शब्दानुगतता से रहित निर्विकल्पक ज्ञान नहीं।।125।।

सब वस्तुओं के वाक् के अधीन होने में अन्य युक्ति दर्शाते हैं-

**सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।**
**तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते।।126।।**

अन्वयः- सा सर्वविद्याशिल्पानाम् च कलानाम् उपबन्धनी। तद्वशात् अभिनिष्पन्नम् सर्वम् वस्तु विभज्यते।।

व्याख्या- (सा) वह वाक् ही (सर्वविद्याशिल्पानाम्) सब नामों, सारी वेदादि शास्त्रों में वर्णित विद्याओं और वस्त्र, भवन, यन्त्र, यानादि शिल्पों के निर्माण की विधियों की (च) और (कलानाम्) संगीत, नृत्य, वाद्य, आदि कलाओं की (उपबन्धनी) ज्ञापिका- बतलाने वाली है। (तद्वशात्) उस ज्ञानमय वाक् (शब्द) के अधीन ही (अभिनिष्पन्नम्) प्रयोक्ता की बुद्धि में स्थित शब्दानुविद्ध घटपटादि अर्थसमन्वित ज्ञान (विभज्यते) उपदेश द्वारा पृथक् होकर प्रतिपत्ता- श्रोता की बुद्धि में समारूढ किया

आता है अर्थात् पहुँचाया जाता है। यही बात ग्रन्थकार ने स्वयमेव स्वरचित टीका में पुनः इन शब्दों में कही है-

'विद्याशिल्पकलादिभिर्लौकिकेषु वैदिकेषु चार्थेषु मनुष्याणां प्रायेण व्यवहारः प्रतिबद्धः। मनुष्याधीनाश्चेतरस्य भूतग्रामस्य स्थावरजंगमस्य प्रवृत्तयः। विद्यादयश्च वाग्रूपतायां बुद्धौ निबद्धा घटादीनां चाभिनिष्पादने प्रयोज्यप्रयोजकानामुपदेशमीहादि सर्वं वाग्रूपतानुसारेण प्रकल्पते' इति। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यों का लौकिक अर्थविषयक और वैदिक अर्थविषयक सम्पूर्ण अनुष्ठान, हान-उपादान-परिवर्जनादि रूप व्यवहार वाग्रूपता के अनुसार ही सिद्ध हुआ करता है।।126।।

इसी वाक् (शब्द) के महत्त्व को पुनः दर्शाते हैं-

**सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्त्तते।**
**तन्मात्रामप्यतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु।।127।।**

अन्वयः- सा एषा संसारिणाम् बहिः संज्ञा वर्तते तन्मात्राम् अतिक्रान्तम् अपि सर्वजन्तषु चैतन्यम् अन्तः वर्तते।।

व्याख्या- (सा एषा) यह वाणी (संसारिणाम्) संसार के प्राणियों की (बहिः) बाह्य, बाहरी व्यवहार की (संज्ञा) वाचक है अर्थात् जानकारी देती है और एक दूसरे के प्रति या स्वयमेव का व्यक्त, अव्यक्त भाषा का प्रयोग है। (तन्मात्राम्) उस बाह्य व्यवहार को (अतिक्रान्तम् अपि) छोड़ देने पर भी (सर्वजन्तुषु) सब प्राणियों में (चैतन्यम्) सुख-दुःख, आदि का अनुभव करने वाला चेतन आत्मा (अन्तः वर्तते) देह के भीतर हृदय में रहता है, जिसका व्यपदेश भी शब्द से ही होता है।।127।।

और भी,

**अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।**
**तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्।।128।।**

अन्वयः- सर्वा वाक् अर्थक्रियासु सर्वान् देहिनः समीहयति। तदुत्क्रान्तौ अयम् विसंज्ञः काष्ठकुड्यवत् दृश्यते।।

व्याख्या- (सर्वा वाक्) सारी वाणी ही (अर्थक्रियासु) सब सिद्ध और साध्य वस्तुओं और उनकी क्रियाओं में (सर्वान् देहिनः) सब देहधारी

प्राणियों को (समीहयति) प्रवृत्त कराती है। (तदुत्क्रान्तौ) उस वाणी के शरीर से निकल जाने पर (अयम्) यह बोलने वाला प्राणी (विसंज्ञः) चेतनाशून्य होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और (काष्ठकुड्यवत्) निश्चेष्ट लकड़ी या दीवार के सदृश (दृश्यते) दिखाई देता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक् (शब्द) ही चेतनता की पहचान है और उसके न रहने पर प्राणी का सारा व्यवहार भी समाप्त हो जाता है।।128।।

लोक में कार्यकारण का व्यवहार भी शब्द के द्वारा होता है, इसको दर्शाते हैं-

**प्रविभागे यथा कर्ता तथा कार्ये प्रवर्तते।**
**अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते।।129।।**

अन्वयः- प्रविभागे यथा कर्ता तथा कार्ये प्रवर्तते। अविभागे सा एव तथा कार्यत्वेन अवतिष्ठते।।

व्याख्या- (प्रविभागे) प्रकृष्ट विभाग में अर्थात् जैसे घटकार के निमित्त कारण होने तथा घट, आदि के कार्यरूप होने में शब्दब्रह्म का जो विभाग रूप विवर्त है, उसमें (यथा) जिस प्रकार (कर्ता) घटकार होता है (तथा) उसी प्रकार वह (कार्ये) घटरूप कार्य की रचना में (प्रवर्तते) प्रवृत्त होता है। जब (अविभागे) कर्ता और कार्य अविभक्त रहते हैं तब वह विभागरहित विवर्त की स्थिति है। (तथा) उसी प्रकार (सा एव) वह वाक् भी (कार्यत्वेन) कार्यरूप में (अवतिष्ठते) अवस्थित रहती है। सारांश यह है कि शब्दब्रह्म के विभागाविभाग के कारण ही सांसारिक पदार्थों से और शब्दों से पृथक्-पृथक् व्यवहार हुआ करता है।

इस कारिका की हरिवृषभीय टीका में वाक्तत्त्व और चित्तत्त्व में मूलतः अर्थात् कारणतः अभेद और कार्यात्मना भेद दर्शाते हुए वाक् को परा प्रकृति कहा है। यथा, 'नहि सा चैतन्येनाविष्टा जातिरस्ति यस्यां स्वपरसम्बोधो यो वाचा नानुगम्यते तस्माच्चितिक्रियारूपम् अलब्धवाक्शक्तिपरिग्रहं न विद्यते। वाक्तत्त्वरूपमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये। तथाह,

भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा।।

एकत्वमनतिक्रान्ता वाङ्नेत्रा वाङ्निबन्धना।
पृथक् प्रत्यवभासन्ते वाग्विभागा गवादयः।।
षड्द्वारां षडधिष्ठानां षट्प्रबोधां षडव्ययाम्।
ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते।। इति।

इसी प्रकार ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य की भामती टीका में भी कहा गया है-

कार्यात्मना तु नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा।। इति।

इन श्लोकों में गौ आदि पदार्थ और शब्द वाङ्नेत्र इसलिए कहे गये हैं क्योंकि वाक् ही है प्रतिपत्ता के प्रति नेत्र नयन अर्थात् साधन है उनका। संसार में वे अर्थरूप और शब्दरूप पदार्थ प्रयोक्ता के द्वारा श्रोता के प्रति वाक् अर्थात् शब्दों से ही तो बतलाये जाते हैं, इसलिए वाङ्नेत्र कहलाते हैं। और वाक्-निबन्धना इसलिए कहे गये हैं क्योंकि वाक् परा प्रकृति ही निबन्धन अर्थात् हेतु है, जो उत्पत्ति और ज्ञप्ति में गौ आदि पदार्थों और शब्दों का कारण होती है। तथा षड्द्वाराम्, इत्यादि इसलिए वाक् को कहा गया है क्योंकि वाचकत्व-लक्षकत्व-व्यञ्जकत्व ये तीन वृत्तियाँ ही पद और वाक्य के भेद से उसके छः प्रकार की हुआ करती हैं।।129।।

शब्द की जगत्कारणता को पुनः प्रतिपादित करते हैं-

**स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा।**
**तथैव रूढतामेति तथा ह्यर्थो विधीयते।।130।।**

अन्वयः- स्वमात्रा वा परमात्रा वा श्रुत्या यथा प्रक्रम्यते तथा एव रूढताम् एति हि तया अर्थः विधीयते।।

व्याख्या- (स्वमात्रा) अपनी मात्रा (वा) और (परमात्रा वा) दूसरे की मात्रा (श्रुत्या) वेद द्वारा (यथा) जिस प्रकार (प्रक्रम्यते) प्रतिपादित की जाती है। जैसे कि ब्रह्म का स्वलक्षण- एकत्व और सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वाधार, आदि रूप 'न द्वितीयो न तृतीयो न चतुर्थो न पञ्चमः- -स एकवृदेक एव' (अथर्ववेद), 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूद्ध स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। (यजुर्वेद, 40-8) इत्यादि वेदमन्त्रों में

प्रतिपादित किया गया है। और (परमात्रा वा) ब्रह्म से भिन्न जड-चेतन जगत् की रचना का (श्रुत्या यथा प्रक्रम्यते) ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः० (यजुः 31-5), द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। (ऋग्०, यजुः०), स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाग्० (यजुः 013-4) इत्यादि वेदमन्त्रों मे वर्णन किया गया है। (तथा एव) उसी प्रकार से शब्द अपने से सम्बद्ध अर्थ में (रूढताम् एति) प्रयोग होते-होते रूढ हो जाता है। (हि) क्योंकि (तया) उस श्रुति वेद से ही (अर्थः) वह वह अर्थ (विधीयते) विहित होता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में प्रयुक्त अधिकांश पद मूलतः वेदों से ही लिए गए हैं। वेद में ये शब्द यौगिक और योगरूढ हैं जैसा कि निरुक्त और व्याकरण शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार ही ऋषियों के द्वारा किए गए संकेत से लोक में उस उस शब्द का वह वह अर्थ नियत (रूढ) मानकर व्यवहार में ग्रहण किया जाता है।

यहाँ पर विभिन्न टीकाकारों ने स्वमात्रा और परमात्रा शब्दों के द्वैत-अद्वैतपरक कुछ भिन्न अर्थ भी किये हैं। जैसे कि अद्वैतपरक अर्थ को मानकर स्वमात्रा का अर्थ-आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है और उसी का आभास या प्रतिबिम्ब के समान पुरुष में जीव है, यह किया गया है। और परमात्रा के अनुसार (द्वैतवाद के अनुसार) अग्नि से जैसे विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से ब्रह्म के अवयव के रूप में जीव, लोकादि उत्पन्न होते हैं। जैसे कि कहा गया है- 'तथा च श्रुतिः, यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वे एतस्मादात्मनो व्युच्चरन्ति।' (द्रष्टव्य, पं० रघुनाथशर्मा, वा०प०, ब्र०का०टीका, पृ०195), द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० इत्यादि श्रुति से भी द्वैत अर्थ को स्वीकार किया गया है। किन्तु इस में प्रायः सभी एकमत हैं कि सारे व्यवहारों का कारण शब्द होने से सारा संसार ही विवर्तवाद के अनुसार शब्दमूलक है।।130।।

इस विषय में अन्य दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं-

**अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।**

**दृश्यते अलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा।।131।।**

अन्वयः- निमित्ते अत्यन्तम् अतथाभूते अलातचक्रादौ श्रुत्युपाश्रयात् वस्त्वाकारनिरूपणा भवतीति शेषः।।

व्याख्या- (निमित्ते) कारण के (अत्यन्तम् अतथाभूते) सर्वथा वैसा न होने पर भी अर्थात् असत्य होने पर भी (अलातचक्रादौ) जलती हुई लकड़ी मशाल आदि को तेजी से गोलाई में घुमाने पर जो अग्निमय चक्राकार रूप दिखाई देता है, वह जैसे अवास्तविक होता है उसी प्रकार (श्रुत्युपाश्रयात्) शशविषाण इत्यादि असत्य अर्थ वाले शब्द को सुनने मात्र से (वस्त्वाकारनिरूपणा) खरगोश के सींग की एक कल्पना केवल मन में होती है, परन्तु वास्तविक रूप से बाहर देखो तो खरगोश में कभी किसी सींग की सत्ता तो होती नहीं। इससे जाना जाता है कि शब्दमूलक ही सृष्टि है और शब्द द्वारा ही सत्य या असत्य अथवा वास्तविक और अवास्तविक अर्थ जाना जाता है।।131।।

अब अन्तर्वर्ती आत्मा का शब्दऋषभ के साथ सायुज्य दर्शाते हैं-

**अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।**
**प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।।132।।**

अन्वयः- अपि प्रयोक्तुः अन्तः अवस्थितम् महान्तम् आत्मानम् ऋषभम् शब्दम् प्राहुः येन सायुज्यम् इष्यते।।

व्याख्या- (अपि) और भी (प्रयोक्तुः) उच्चारण करने वाले के (अन्तः अवस्थितम्) शरीर के अन्दर हृदय में रहने वाले (महान्तम् आत्मानम्) महान् आत्मा को (ऋषभम्) अर्थों और कामनाओं की वर्षा करने वाले (शब्दम्) शब्द को (प्राहुः) कहते हैं, (येन) जिस शब्द के साथ (सायुज्यम्) जीवात्मा का सहवास अर्थात् सदा साथ रहने का भाव मोक्ष (इष्यते) अभीष्ट हुआ करता है।

आशय यह है कि शब्द दो प्रकार का है- नित्य और अनित्य। इसमें अनित्य तो लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला (अपभ्रंशरूप) भी है। और नित्य शब्द अखण्ड स्फोट है। वही सब व्यवहारों का मूल कारण, क्रमरहित सबके भीतर रहने वाला, विकारों का जन्मस्थान, कर्मों का आश्रय, सुख-दुःख का अधिष्ठान, सर्वत्र कार्य करने की शक्ति से युक्त,

घड़े के भीतर रखे हुए दीपक के बाहर की ओर अवरुद्ध हुए प्रकाश सा, भोग और क्षेत्र की अवधि को ग्रहण किया हुआ, सब मूर्तियों विकारों की परिणामरहित प्रकृति, सब को जानने की शक्ति वाला और सब प्रकार के गो, घट, आदि भेदों का हेतुरूप, स्वप्न और प्रबोध के समान महाप्रलय में सबका मूल कारण में विलय और सृष्टिकाल में पुनः मूल कारण से चराचर जगत् की उत्पत्ति करने वाला, प्रवृत्ति और निवृत्ति में पर्जन्य और दवाग्नि के समान वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश का हेतु, सर्वेश्वर और सर्वशक्तिमान् शब्दवृषभ है। उसी में वाग्योगविद् महान् वैयाकरण अहंकाराश्रित समस्त वासनाओं और संशयों की समस्त ग्रन्थियों को काटकर सब भेदों से रहित होकर मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं, जैसा कि वेद में कहा गया है–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।
(ऋग्वेद, 4-58-3, यजुः० 17-91)।।132।।

अब शब्दसंस्कार किस प्रकार परमात्मा की सिद्धि में उपायभूत होता है, इसको दर्शाते हैं–

**तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।**
**तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते।।133।।**

अन्वयः– तस्मात् यः शब्दसंस्कारः सा परमात्मनः सिद्धिः, तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञः तद् ब्रह्मामृतम् अश्नुते।।

व्याख्या– (तस्मात्) इसलिए उस शब्द और ब्रह्म के ऐक्य से (यः) जो (शब्दसंस्कारः) शब्दों की व्युत्पत्ति और साधुत्व तथा असाधुत्व का परिज्ञान होने का जो संस्कार है (सा) वह (परमात्मनः) परब्रह्म परमात्मा की (सिद्धिः) प्राप्ति का उपाय है। (तस्य) उस शब्दों के संस्कार के (प्रवृत्तितत्त्वज्ञः) प्रवृत्ति के तत्त्व को जानने वाला अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य, आदि रूप व्यवहार ध्वनिकृत है और ध्वनि से अभिव्यंग्य अखण्ड स्फोट रूप अर्थ ही प्रधान है, इस विषय को वास्तविक रूप से जानने वाला (तत्) उस (ब्रह्मामृतम्) शाश्वत ब्रह्म के अविनाशी आनन्द अर्थात् मोक्ष

को (अश्नुते) प्राप्त करता है, ब्रह्म के साक्षात्कार का अधिकारी हो जाता है। कहा भी गया है-

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।' इस आर्ष वचन में प्रयुक्त 'एकः शब्दः' का अर्थ विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। जैसे कि कुछ विद्वानों के अनुसार ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का मुख्य वाचक शब्द प्रणव-ओ३म् पद है, उसी के अर्थ का सम्यग् ज्ञान और ध्यानादि ऐहिक, पारलौकिक, स्वर्गापवर्ग रूप सुखों की प्राप्ति का हेतु है। दूसरे आचार्यों का कहना है कि न केवल ओ३म् के अपितु आत्मा, गौः, अश्वः, पुरुषः, इत्यादि शब्दों के भी परमार्थ को जानने वाला इस लोक और परलोक अर्थात् जन्मान्तर में और मोक्ष होने पर परमानन्द को प्राप्त करता है। यही बात पूर्वोक्त श्लोक- 'इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्। इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥' में भी कही गई है॥133॥

वेद ही सब आगमों का बीज है, आगमों के नष्ट हो जाने पर भी वेदज्ञान बीज रूप में सदा अवस्थित रहता है, जिससे पुनः-पुनः आगमों का प्रवर्तन हो सकता है।

**न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।**
**बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवादौ व्यवस्थिता॥134॥**

अन्वयः- कश्चिद् आगमम् जातु अकर्तृकम् न प्रतिपद्यते। सर्वागमापाये बीजम् त्रयी एव आदौ व्यवस्थिता॥

व्याख्या- (कश्चिद्) कोई भी (आगमम्) आगम अर्थात् वेदोत्तरवर्ती स्मृति, वेदाङ्ग, वेदोपाङ्ग, उपवेद, ब्राह्मण, श्रौत-गृह्य-धर्म-शुल्व सूत्रादि शास्त्रग्रन्थों को (जातु) कभी भी (अकर्तृकम्) कर्ता से रहित (न प्रतिपद्यते) नहीं मानता है। अर्थात् ये सारे के सारे ग्रन्थ किसी न किसी रचयिता के द्वारा किसी न किसी समय में रचे गये हैं। परन्तु वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) का रचयिता कोई भी मनुष्य नहीं है। ये वेद परम्परा से अपौरुषेय माने जाते हैं और मानव-सृष्टि के आरम्भ होते ही परब्रह्म परमेश्वर के द्वारा अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा नामक

आदि ऋषियों की आत्माओं में श्रुति रूप में प्रकाशित हुए हैं, जैसा कि मनुस्मृति, ऐतरेय, शतपथ और गोपथ ब्राह्मणों में वर्णित है। अतः (सर्वागमापाये) सब आगमों पूर्वोक्त स्मृत्यादि ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी (बीजम्) इन स्मृत्यादि ग्रन्थों और शिक्षा-व्याकरण-निरुक्तादि शास्त्रों का कारण रूप मूल ज्ञान (त्रयी एव) वेद ही (आदौ) सृष्टि के आदि में और इन शास्त्रों की रचना के आरम्भ से भी पहले (व्यवस्थिता) श्रुति रूप में प्रादुर्भूत रहने से व्यवस्थित रहता है। अतः 'वेदो नित्यमधीयताम्' वेदाध्ययन नित्य करना चाहिए, इस नियम के अनुपालन होने पर वेदों के भीतर से लुप्त हुई कोई भी विद्या पुनः प्रकाशित की जा सकती है। इस प्रकार वेदानुमोदित और वेदाधारित विद्याओं का संसार में प्रकाश बना रहने से लोककल्याण, समाजोत्थान और सामाजिक समरसता बनी रहेगी और मनुष्यादि प्राणी शान्ति और सुख का अनुभव करेंगे। यहाँ पर वाक्यपदीय हरिवृषभीय टीका के ये वचन भी द्रष्टव्य हैं-

सर्वप्रवादेष्वागमवाक्यानां प्रणेतृपरिग्रहेण पौरुषेयत्वमभ्युपगम्यते। वेदवाक्यानि तु चैतन्यवदपौरुषेयाणि तान्यगमान्तराणां प्रणेतृषु विच्छिन्नेषु आगमान्तरानुसन्धाने बीजवदवतिष्ठन्ते।। (वा.प.,पृ०, 201)।।

उक्त कथन को ही अन्य युक्ति से उपपादित करते हैं-

**अस्तं यातेषु वादेषु कर्तृष्वन्येष्वसत्स्वपि।**
**श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं लोको न व्यतिवर्तते।।135।।**

अन्वयः- वादेषु अस्तम् यातेषु, अन्येषु कर्तृसु असत्सु अपि श्रुतिस्मृत्युदितम् धर्मम् लोकः न व्यतिवर्तते।।

व्याख्या- (वादेषु) भक्ष्याभक्ष्यादि विविध प्रकार के आचरणों की विधियों के (अस्तम् यातेषु) नष्ट हो जाने पर और (अन्येषु कर्तृषु) अन्य ग्रन्थ- रचयिताओं के (असत्सु अपि) न होने पर भी (श्रुतिस्मृत्युदितम्) वेदों तथा मनुस्मृत्यादि शास्त्रों के द्वारा विहित और प्रतिपादित (धर्मम्) यज्ञादि कर्मों की कर्तव्यता तथा भक्ष्याभक्ष्यादि विविध आचार नियमों को (लोकः) सज्जन (न व्यतिवर्तते) नहीं छोड़ा करते, प्रत्युत श्रुतिस्मृत्यनुसारी आचरण को अपनाया करते हैं। इस प्रकार शिष्टों के द्वारा सदाचार का

उल्लंघन न होने से वह धर्म सदा बना रहता है। यही वेदादिशास्त्रप्रतिपादित धर्म की प्रवाहगत नित्यता सनातनता है।।135।।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार से तो स्मृति के विना भी लोग धर्माचरण करते रहेंगे, तब स्मृतियों के प्रणयन का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में कहते हैं-

**ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रे कश्चन विद्यते।**
**धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तस्याम्नायो निबन्धनम्।।136।।**

अन्वयः- ज्ञाने स्वाभाविके शास्त्रे कश्चन अर्थः न विद्यते। चेत् धर्मः ज्ञानस्य हेतुः तस्य आम्नायः निबन्धनम्।।

व्याख्या- (ज्ञाने) ज्ञान के (स्वाभाविके) स्वाभाविक होने पर तो (शास्त्रैः) स्मृति शास्त्रों का (कश्चन) कोई भी (अर्थः) प्रयोजन (न विद्यते) नहीं रह जाता। (चेत्) यदि (धर्मः ज्ञानस्य हेतुः) धर्म ही ज्ञान का कारण है तो (तस्य) उसका (आम्नायः) वेदशास्त्र ही (निबन्धनम्) निमित्त हुआ करता है। धर्म की कर्तव्याकर्तव्य कर्मों की व्यवस्था वेदादि शास्त्रों के अनुसार हुआ करती है, उससे विपरीत नहीं। इसलिए स्वाभाविक ज्ञान से बढ़कर जो वेदधर्म पर आधारित ज्ञान है, उसको जानना चाहिए।।136।।

यद्यपि अनुमान का भी प्रामाण्य है, तथापि आगम का प्रामाण्य परोक्ष विषयों में सर्वोपरि हुआ करता है, इसको दर्शाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं-

**वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।**
**रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते।।137।।**

अन्वयः- अपश्यताम् वेदशास्त्राविरोधी तर्कः चक्षुः हि केवलात् रूपमात्रात् वाक्यार्थः न अवतिष्ठते।

व्याख्या- (अपश्यताम्) वस्तुतत्त्व का साक्षात्कार करने में असमर्थ लोगों के लिए (वेदशास्त्राविरोधी) वेदशास्त्र से अविरुद्ध तर्क अर्थात् वेदानुकूल (तर्कः) अनुमान, ऊहादि (चक्षुः) नेत्र के समान अर्थ का प्रकाशक हुआ करता है। (हि) क्योंकि (केवलात्) प्रकरणादि के विचार के विना केवल (रूपमात्रात्) वाक्य के स्वरूप मात्र से (वाक्यार्थः)

वास्तविक अर्थ (न अवतिष्ठते) व्यवस्थित नहीं हो सकता, सम्यक् नहीं जाना जा सकता। वस्तुतः प्रकरण, आदि के ज्ञान के साथ ही जहाँ वाक्यार्थ पर विचार किया जाता है, वहीं वाक्य का यथार्थ निश्चयात्मक बोध हुआ करता है, न कि उसके विना। इसलिए वेदार्थ के ज्ञान में सहकारी तर्क प्रमाण हुआ करता है, शुष्क तर्क नहीं। कहा भी गया है- 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।' अर्थात् अतिसूक्ष्म परोक्ष विषय, जैसे आत्मा, परमात्मा, अदृष्ट, सृष्टि की रचना, महाप्रलय, आदि, जो बुद्धि की सामान्य गति-सामर्थ्य से परे तत्त्व हैं, उन्हें केवल तर्क के सहाय से नहीं, अपितु वेदादि शास्त्रों के आधार पर जानना चाहिए।।137।।

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं-

**यतो विवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।**
**इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते।।138।।**

अन्वयः- यतः विवक्षा पारार्थ्यम् लैङ्गिकी अर्थस्य व्यक्तिः इति बहुविधाः न्यायः तर्केण प्रविभज्यते।।

व्याख्या- (यतः) जिससे (विवक्षा) कहने की इच्छा (अथवा 'सतो अविवक्षा' इस पाठान्तर के अनुसार विद्यमान की भी कदाचित् विवक्षा नहीं हुआ करती) (पारार्थ्यम्) दूसरे अर्थ को ध्यान में रखते हुए हुआ करती है। (लैङ्गिकी) लिङ्ग या प्रतीक के अनुसार (अर्थस्य व्यक्तिः) अर्थ का प्रत्यायन या प्राकट्य हुआ करता है (इति) इस प्रकार (बहुविधाः) अनेक प्रकार का न्याय या अनुगम (तर्केण) तर्क से विवेचित किया जाता है। उदाहरण के लिए पाणिनीय सूत्र है- 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (अ01-4-49) इस सूत्र में कर्तुः पद पुँल्लिङ्ग एकवचन में है और ईप्सिततमं और कर्म ये पद नपुंसकलिङ्ग एकवचन में पठित हैं। अब यहाँ पर विचारना चाहिए कि कर्ता और ईप्सिततम तो अपने निज अर्थ के ग्राहक या बोधक हैं, क्योंकि कर्ता के द्वारा जो सर्वाधिक ईप्सित (प्राप्त करने के लिए अभीष्ट) हो उसी की कर्म संज्ञा व्याकरण शास्त्र में कही गई है। परन्तु इन पदों में एकत्व या पुलिङ्ग या नपुंसक लिङ्ग की विवक्षा नहीं है। कर्तुः पद कर्तृ (पुलिङ्ग) एकवचन का

रूप होते हुए भी दो कर्ताओं का या बहुत कर्ताओं का, अथवा एक कर्त्री का, दो कर्त्रियों का और बहुत कर्त्रियों का, यह अर्थ भी दर्शाता है। उसी प्रकार ईप्सिततम से केवल अभीष्ट एक वस्तु ही नहीं, प्रत्युत दो या बहुत वस्तुओं का भी ग्रहण हुआ करता है, वह भी पुंलिङ्ग हो या स्त्रीलिङ्ग हो या नपुंसक लिङ्ग हो, हो चुका हो, हो रहा हो या होने वाला हो- ऐसा सब प्रकार के अर्थ को द्योतित करता है। यही स्थिति एकवचन में पठित कर्म शब्द की भी समझनी चाहिए। इस प्रकार कहीं पर विवक्षा और कहीं पर अविवक्षा ये दोनों अर्थ तर्क द्वारा समझे जा सकते हैं। अतः तर्क की शब्दार्थ ज्ञान में आवश्यकता सदा बनी रहती है, यह कारिका का भावार्थ है। यहाँ पर हरिवृषभीय टीका में 'स्त्रियं ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्ते मृतलक्षणम्' यह किसी स्मृति का वचन उदाहृत है। यहाँ भी उपजीवन्ति पद उपाजीविषुः, उपजीविष्यन्ति, इन भूत, भविष्यत् अर्थों को भी विवक्षित करता है, केवल वर्तमान अर्थ को ही नहीं, यह दर्शाया गया है।।138।।

अब प्रश्न होता है कि वेदशास्त्रों के अर्थज्ञान में वेदाविरोधी तर्क सहायक होता है तो क्या वह स्वतन्त्र रूप से भी अर्थ के निर्णय का हेतु होता है? इसके उत्तर में कहते हैं-

**शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।**
**स शब्दानुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः।।139।।**

अन्वयः- यः पुरुषाश्रयः तर्कः सा शब्दानाम् एव शक्तिः। स न्यायः शब्दानुगतः, अनागमेषु अनिबन्धनः।।

व्याख्या- (पुरुषाश्रयः) पुरुष की बुद्धि से प्रवृत्त होने वाला (तर्कः) अनुमान और ऊह रूप विचार होता है (सा) वह (शब्दानाम् एव शक्तिः) शब्दों की ही शक्ति है। (सः न्यायः) इस प्रकार का निश्चय (शब्दानुगतः) शब्दों के आधार पर ही होता है। अर्थात् शब्दों में अर्थ को प्रकाशित करने की जो स्वाभाविक शक्ति होती है, उसी आधार पर पुरुष के मन-बुद्धि में किसी वस्तु के सम्बन्ध में अर्थ-प्रकरण-लिङ्ग, आदि के अनुसार तर्क-वितर्क हुआ करता है। (अनागमेषु) आगम से रहित स्थलों में शुष्क तर्क (अनिबन्धनः) निश्चयात्मक होता है। अर्थात् शास्त्रसम्मत

जो वस्तु नहीं है, अथवा शब्द की नियत शक्ति के विपरीत जो बात कही जाती है वह प्रामाणिक और तत्त्वार्थबोधक नहीं हुआ करती।।139।।

शब्दों में अर्थ प्रकाशित करने का सामर्थ्य होते हुए भी यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि किसी शब्द के प्रयोग से अनेक अर्थ युगपत् अनेक कार्य हो जायेंगे। इस विषय में यह कारिका है-

**रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यर्थं यतशक्तयः।**
**शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु।।140।।**

अन्वयः- (यथा) जिस प्रकार (रूपादयः) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नामक विभिन्न द्रव्यों के गुण (प्रत्यर्थम्) अपने-अपने विषय में (यतशक्तयः) नियत शक्ति वाले हुआ करते हैं। जैसे कि रूप का ज्ञान आकृतिमान् वस्तु में अग्नि, सूर्यादि के प्रकाश की उपस्थिति में चक्षु द्वारा होता है। रस का ज्ञान जल, आदि द्रव्य में और उनसे युक्त पदार्थ में रसना (जिह्वा) द्वारा होता है। गन्ध का ज्ञान किसी भी पार्थिव वस्तु में, अथवा पार्थिव परमाणुओं से इतर भौतिक द्रव्य में नासिका द्वारा होता है और स्पर्श का ज्ञान वायु में या वायुव्याप्य इतर भौतिक द्रव्यों में त्वचा से होता है, (तथा एव) उसी प्रकार (शब्दाः) शब्द भी (विषापहरणादिषु) विष को दूर करने आदि कार्यों में नियतशक्ति वाले होते हैं। वेद, आयुर्वेद, आदि में विष के प्रभाव को दूर करने के लिए मन्त्रों एवं श्लोकों में जिन ओषधियों का वर्णन हुआ है (जैसे कि विशेषतः अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में ऐसे वर्णन हैं) उनके उच्चारण के साथ-साथ उनमें वर्णित ओषधिविशेष का प्रयोग भी विषयुक्त शरीर या उसके किसी अंग से विष को दूर करने के लिए किया जाये तो वह लाभदायक होता है। यहाँ पर कुछ लोग केवल मन्त्र के प्रयोग को महत्त्व देते हैं, वह ओषधि के विना पूर्ण लाभकारी नहीं हो सकता। किन्तु जब मन्त्रोक्त ओषधि का प्रयोग भी रोग में साथ-साथ किया जाये तो ऐसे उपचार में सफलता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। अनुमान होता है कि ऐसा करने पर ही मन्त्र यतशक्ति अर्थात् प्रभावकारी होते है, यह अभिप्राय प्रकृत श्लोक का ग्रहण करना अधिक समीचीन है।।140।।

शब्द जहाँ अपना वाच्य अर्थ प्रकट करते हैं, वहाँ साधु (संस्कृत) शब्दों में यह भी गुण विशेष है कि उनके प्रयोग से धर्मजनकता होती है, इसको बतलाते है-

**यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयते।**
**साधूनां साधुभिस्तस्माद् वाच्यमभ्युदयार्थिभिः॥141॥**

अन्वयः- एषाम् यथा तत्र सामर्थ्यम् एवम् धर्मे अपि प्रतीयते। तस्माद् अभ्युदयार्थिभिः साधूनाम् शब्दानाम् प्रयोगः कर्तव्यः, न त्वसाधुशब्दानाम्। तस्मात् साधुभिः (शब्दैः) एव वाच्यम् (अर्थप्रकाशनम् कर्तव्यमित्यर्थः)॥

व्याख्या- (एषाम्) इन शब्दों का (यथा) जिस प्रकार (तत्र) विषापहरणादि में (सामर्थ्यम्) सार्थकता रूप शक्ति है (एवम्) इसी प्रकार उनकी (धर्मे अपि) धर्म में भी (प्रतीयते) प्रतीत होती है, ज्ञात होती है। व्याकरण महाभाष्य में साधु शब्दों अर्थात् व्याकरण-प्रक्रियानुसार शुद्ध संस्कृत शब्दों में धर्मजनकता रूप सामर्थ्य को इन शब्दों में दर्शाया गया है- 'लोकतो अर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते, शब्देनैवार्थे अभिधेयो नापशब्देनेति, एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।' (तस्मात्) इस कारण से (अभ्युदयार्थिभिः) इस लोक और परलोक में कल्याण चाहने वालों को चाहिए कि वे (साधूनाम्) साधु अर्थात् संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग करें। अतः (साधुभिः) शुद्ध संस्कृत शब्दों से ही (वाच्यम्) अर्थों का व्यवहार करना चाहिए, असाधु अपभ्रंश शब्दों से नहीं। महाभाष्य में कहा भी गया है- 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवतीति'॥141॥

दृष्टफल या अदृष्टफल के विषय में आगम की प्रामाणिकता के विरोध के लिए शुष्क तर्क नही करना चाहिए, इस बात को दर्शाते हैं।

**सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात् प्रतिपद्यते।**
**विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे॥142॥**

अन्वयः- सर्व अदृष्टफलान् अर्थान् आगमात् प्रतिपद्यते। आगमे च सर्वत्र विपरीतम् वक्तुम् शक्यते॥

व्याख्या- (सर्वः) सब कोई (अदृष्टफलान् अर्थान्) जिनका फल, दृष्ट

अर्थात् वर्तमान जन्म में न प्राप्त होकर अदृष्ट अर्थात् अन्य जन्म (=परलोक) में मिले, इस कारण से जो अदृष्टफल वाले कर्म हैं, इस प्रकार के यागादि कर्मों की सत्यता और उपयोगिता को (आगमात्) शास्त्रवचनों से {जैसे कि 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे, इत्यादि से} (प्रतिपद्यते) जाना करता है। (आगमे) आगम के विषय में (सर्वत्र) कहीं पर भी (विपरीतम् च) विपरीत फल भी होता है, ऐसा किसी के द्वारा (वक्तुम् शक्यते) कहा जा सकता है। आशय यह है कि वेदादि शास्त्रों के विविध कर्मों के विधि-विधान विधि-नियमपूर्वक किये जाने पर ही फलदायी होते हैं, अन्यथा नहीं। इस विषय में कोई यह भी तर्क कर सकता है कि इन आगमों का विपरीत फल क्यों न माना जाय? जो दृष्टफल है वह किसी दृष्ट कर्म का फल हो, और अदृष्ट फल यागादि से भिन्न किसी अन्य अदृष्ट कर्म का ही फल हो तो ऐसा शुष्क तर्क, जो आगमविरोधी हो, प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो सम्भव होता है, वह ठीक भी हो सकता है, परन्तु इतने कथनमात्र से आगम अप्रमाण नहीं हो सकता।।142।।

व्याकरण शास्त्र का तो मुख्यतः शब्दों का साधुत्व दर्शाना ही मुख्य प्रयोजन है, इसे प्रतिपादित करते हैं-

**साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।**
**अविच्छेदेन शब्दानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्।।143।।**

अन्वयः- सा एषा व्याकरणस्मृतिः साधुत्वज्ञानविषया। इदम् शिष्टानाम् अविच्छेदेन स्मृतिनिबन्धनम्।।

व्याख्या- (सा एषा) वह यह (व्याकरणस्मृतिः) व्याकरणशास्त्र (साधुत्वज्ञानविषया) अमुक शब्द साधु, शुद्ध, धर्मजनक और अभ्युदयकारि है, अमुक शब्द असाधु, अशुद्ध, धर्मजनकतारहित है, इस प्रकार का ज्ञान जिसके द्वारा होता है, वैसा है। (शिष्टानाम्) अति प्राचीन काल से ही वेदार्थ को यथार्थ रूप में बतलाने वाले शिष्टों शब्दशास्त्री आचार्यों का (अविच्छेदेन) निरन्तर चलते रहने वाला (इदम्) यह (स्मृतिनिबन्धनम्) शास्त्रप्रणयनरूप कार्य है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य पाणिनि से

भी पहले के ऋषि महर्षि आपिशलि, शाकटायन, गार्ग्य, भारद्वाज, काश्यप आदि ने भी व्याकरण शास्त्र के सूत्र रूप ग्रन्थों को समय-समय पर रचा था। पठन-पाठन के क्रम के चलते रहने से यह व्याकरण विद्या निरन्तर प्रचलित है। आज की भाँति आगे के शास्त्रजिज्ञासुओं के लिए भी पाणिनीय अष्टाध्यायी, पातञ्जल महाभाष्य, वाक्यपदीय जैसे ग्रन्थ प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते रहेंगे। जिस प्रकार भक्ष्याभक्ष्य, कार्याकार्य, गम्यागम्य, आदि के निर्णयार्थ मनुस्मृति, आदि धर्मशास्त्र के ग्रन्थ वेदों के पश्चात् ऋषियों ने स्मृतिबद्ध किए और रचे हैं, उसी प्रकार वाच्यावाच्यादि के समीचीन ज्ञान के लिए भी साधु शब्दों का परिचायक यह व्याकरण शास्त्र भी बनाया गया है।।143।।

यह व्याकरण शास्त्र तीन प्रकार की वाणी का अद्भुत परम पद (मोक्ष का हेतु) है, इसे दर्शाते हैं-

**वैखर्य्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।**
**अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्।।144।।**

अन्वयः- वेखर्य्याः मध्यमायाः पश्यन्त्याः च अनेकतीर्थभेदायाः त्रय्याः वाचः एतत् अद्भुतम् परम् पदम् अस्ति।।

व्याख्या- (वैखर्य्याः मध्यमायाः पश्यन्त्याः च) और वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती नामक (अनेकतीर्थभेदायाः) अनेक स्थानों से उत्पन्न होने वाली (त्रय्याः वाचः) इस त्रिविध वाणी का, अथवा ऋग्-यजुः साम रूपी त्रयी वाक् जो अनादि अविनाशी नित्य वेदवाणी है, उसका (एतत्) यह व्याकरण शास्त्र (अद्भुतम् परम् पदम्) सर्वोत्कृष्ट ज्ञेय एवं प्राप्य शब्दब्रह्म अथवा मोक्ष को दर्शाने वाला अद्भुत, विलक्षण आश्चर्यजनक उपाय है। ग्रंथकार की प्रतिज्ञानुसार यहाँ पर 'परं पद' का तात्पर्य शब्दब्रह्म (=अखण्ड स्फोटरूप नित्य वाक्) अथवा मोक्ष से अभिप्रेत जानना चाहिए।

यहाँ अनेक व्याख्याकारों ने 'त्रय्याः वाचः' पदों का अर्थ वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती माना है और 'परं पदम्' शब्दों का अर्थ परा वाक् माना है। वेदों में इस त्रिविधा वाक् को हृदिस्थ और उस वाक् के तुरीय

अर्थात् चतुर्थ भाग वैखरी को मनुष्यों के सामान्य व्यवहार की भाषा कहा गया है। यह चतुर्विध वाक् चिदात्मा (जीव) के साथ सम्बद्ध होती हुई मानव शरीर में किस रूप में कहाँ कहाँ अवस्थित रहती है, इसका वर्णन वेद और लोक में इस प्रकार किया गया है। यथा,

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।इति वेदे।।
परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।इति व्याकरणशास्त्रे।।

अर्थात् सबसे अधिक सूक्ष्म अव्यक्त रूप में अवस्थित 'परा' नामक वाणी मूलाधार चक्र (सुषुम्ना नाडी के आरम्भिक छोर) में रहती है, उससे कुछ कम सूक्ष्म नाभि (मणिपूर चक्र) में रहने वाली 'पश्यन्ती' है, इसमें वर्णपदक्रम एकीभूत रहता है। पश्यन्ती से कुछ स्थूल हृदय में रहती है, जो मन और बुद्धि से स्पष्टतः ज्ञातक्रम और ज्ञातार्थक शब्दरूप वाणी 'मध्यमा' कहलाती है। इसी का मन्त्रों के उपांशु (मन के भीतर) जप में प्रयोग हुआ करता है। अन्तिम व्यक्तवर्ण वाली स्थूलरूप चतुर्थी 'वैखरी' वाणी है, जो उच्चारण द्वारा दूसरे के कर्णगोचर होने पर, लोकव्यवहार को सिद्ध करती है। योग की दृष्टि से विचार किया जाये तो परावाक् निर्विकल्पक (असम्प्रज्ञात) समाधि की अवस्था है तो पश्यन्ती सविकल्पक (सम्प्रज्ञात) समाधि की अवस्था है। वाक्यपदीय के वृत्तिकार हरिवृषभ ने स्वोपज्ञ टीका में इस वाक् के चतुर्विध रूपों का इन श्लोकों में वर्णन किया है–

स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धनी।।
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते।।
अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।।

ऊपर उदाहृत चत्वारि वाक्0 इत्यादि ऋग्वैदिक मन्त्र का अर्थ विभिन्न

भाष्यकारों ने विभिन्न प्रकार से किया है। नैरुक्त और वैयाकरणों के अनुसार चार प्रकार के शब्द हुआ करते हैं- नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमें विद्वान् तो चारों प्रकार की वाणी को जानते हैं, किन्तु अविद्वान् साधारण मनुष्य केवल प्रसिद्धार्थक रूढि शब्दों के जानकार होने के कारण उनका (निपातरूप शब्दों का) ही प्रयोग किया करते हैं। उधर, नैरुक्तों के अनुसार ऋग्, यजुः, साम रूप वेदवाणी विद्वानों के ज्ञान में रहती है और चतुर्थी वाणी व्यावहारिकी है, जिसे मनुष्य बोलते हैं। याज्ञिकों के अनुसार मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त और व्यावहारिकी (सामान्य लोगों की) वाणी ही चार प्रक्रार की वाक् हैं। इसी प्रकार और भी इस सम्बन्ध में व्याख्याकारों के भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन निरुक्त में मिलता है।।144।।

शब्दशक्ति के ज्ञाता पूर्व वैयाकरणों के अनुसार ही शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व का निश्चय हुआ करता है, जो इस प्रकार है-

**तद् विभागाविभाभ्यां क्रियमाणमवस्थितम्।**
**स्वभावज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः।।145।।**

अन्वयः- भावानाम् स्वभावज्ञैः च शब्दशक्तयः दृश्यन्ते। विभागाविभागाभ्याम् क्रियमाणम् तत् (व्याकरणम्) अवस्थितम्।।

व्याख्या- (भावानाम्) पदार्थों और वस्तुओं के (स्वभावज्ञैः) स्वभाव को जानने वाले वैयाकरण आचार्यों के द्वारा (च) भी (शब्दशक्तयः) शब्दों की शक्तियाँ (दृश्यन्ते) देखी जाती हैं अर्थात् जानी जाती हैं। पाणिनि और उनसे पहले के आचार्यों ने किस वस्तु के लिए किस शब्द में अर्थ-प्रकाशन की शक्ति हुआ करती है, इसका अपने योग-सामर्थ्य से ज्ञान कर लिया था। अतः तदनुसार ही उस उस अर्थ के लिए उस उस उचित शब्द को प्रयुक्त किया है। और तदनुसार ही (विभागाविभागाभ्याम्) प्रकृतिप्रत्ययादि के विभाजन और अविभाजन (निपात) के द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति और निरुक्ति व्याकरण एवं निरुक्त शास्त्रों में की है। जैसे कि सत्ता अर्थात् होने अर्थ वाली भूधातु से तिप् प्रत्यय, शप् विकरण दर्शा कर भवति यह शब्दरूप वर्तमान काल में कर्ता कारक में एकवचन की विवक्षा

में होता है। इसी प्रकार द्विवचन की विवक्षा में भवतः यह रूप होता है, इत्यादि। परन्तु 'पंक्तिविंशतित्रिंशत्०' (अष्टाध्यायी, 5-1-59) इत्यादि सूत्रों द्वारा अव्युत्पन्न अविभाजित रूप में (क्रियमाणम्) शब्दों के अर्थविशेष में साधुत्व को (तत्) वह व्याकरण शास्त्र दर्शाता हुआ (अवस्थितम्) प्रामाणिक रूप में बना रहता है। हरिवृषभीय टीका में इसे इस प्रकार समझाया गया है-

'विभागो नाम परप्रतिपादनाय कल्पितः प्रकृतिप्रत्ययादिभेदः। तद्यथा- धातोस्तव्यदादय इति। तथा चोक्तम्-'यत्तावदयं सामान्येन शक्नोत्युपदेष्टुं तत् तावदुपदिशति' इति। अविभागस्तु यत्र स्वरूपेणोच्चारणम्। तद्यथा- 'दाधर्तिदर्धर्तिदाश्वान्साह्वान्'इति।'

कानिचिद् व्याकरणानि बह्वविभागानि बहून् प्रत्यक्षपक्षेण शब्दान् प्रतिपादयन्ति। कानिचित् तु विभज्यानुमानपक्षेण बहूनां समुदायानां प्रतिपादनं कुर्वन्ति। सैषा स्मृतिर्यथाकालं पुरुषशक्त्यपेक्षया तथा तथा व्यवस्थाप्यते। सन्ति तु साधुप्रयोगानुमेया एव शिष्टाः। सर्वज्ञेयेष्वप्रतिबद्धान्तःप्रकाशास्ते विशिष्टकालावधिप्रविभागां यथाकालं धर्माधर्मसाधनभावेन समन्वितां शब्दशक्तिमव्यभिचारेण पश्यन्ति।' (वा०प० ब्रह्मकाण्डम्, श्लोक 143 की टीका, पृ० 223, सरस्वतीभवनग्रन्थमाला, वाराणसी, 2045 वि०)।।145।।

श्रुति और स्मृति द्वारा भी धर्म की समस्त व्यवस्था शब्दों के नित्यत्व को ध्यान में रखकर की गई है। उसका ज्ञान प्रथमतः श्रुति अर्थात् वेदों से होता है। और वेदों का रचयिता कोई मनुष्य नहीं, किन्तु ईश्वर है। वेद तो अपौरुषेय हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं-

**अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।**
**शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः।।146।।**

अन्वयः- श्रुतिम् अनादिम् अव्यवच्छिन्नाम् अपि अकर्तृकाम् आहुः। शिष्टैः निबध्यमाना स्मृतिः तु न व्यवच्छिद्यते।।

व्याख्या- (श्रुतिम्) वेदों को (अनादिम् अव्यवच्छिन्नाम्) आदि से रहित अर्थात् सदा विद्यमान और प्रलयकाल में तिरोहित स्वरवर्णानुपूर्वी रूप में व्यक्त न रहने वाली मानते हुए भी उसको (अकर्तृकाम्) कर्ता से रहित,

(किसी भी मनुष्य द्वारा रची गई नहीं है, ऐसा) कहते हैं। अपितु उन्हें अपौरुषेय कहा जाता है। इतना ही नहीं, (शिष्टैः) वेदों के अनुसार मन्वादि महर्षियों के द्वारा (निबध्यमाना) रचे गए (स्मृतिः) मनुस्मृति, आदि धर्मशास्त्र के ग्रन्थ और आचार्य पाणिनि और उनके पूर्वज वैयाकरणों के द्वारा रचे गऐ व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थ (तु) भी (न) नहीं (व्यवच्छिद्यते) विनष्ट हुआ करते। तात्पर्य यह है कि यद्यपि ये परवर्ती स्मृतियाँ और शास्त्र ग्रन्थ ऋषियों के द्वारा रचित होने के कारण सकर्तृक है, वेदों की भाँति अकर्तृक या अपौरुषेय नहीं, तथापि वेदों की विद्या के ही संवाहक होने से अविनश्वर माने जाते हैं। क्योंकि अध्ययनाध्यापन के माध्यम से गुरु-शिष्यपरम्परा द्वारा सदा बने रहते हैं। इस प्रकार वैदिक ज्ञान और वैदिक विषयों का प्रवाह निरन्तर बना रहने से इन स्मृतियों को भी नित्य कहा जाता है। एवं कृत्वा शास्त्रप्रतिपादित विषय के अनुष्ठान में धर्म और उसके अतिक्रमण में अधर्म हुआ करता है, यह भी श्रुतिस्मृति के अध्ययनादि का फल अर्थापत्ति से सिद्ध है।

व्याकरण के विषय में यह भी माना जाता है कि जिस प्रकार विषौषधि द्रव्यों में मारक-रक्षक शक्ति स्वतः विद्यमान रहती है और आयुर्वेद शास्त्र उनका यथायोग्य विधायक या निषेधक हुआ करता है, उसी प्रकार साधु शब्दों में धर्मजनकता और असाधु शब्दों में अधर्मजनकता स्वभावतः ही रहा करती है, व्याकरण शास्त्र तो केवल उनका प्रतिपादन करता है कि साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए असाधु शब्दों का नहीं।।146।।

अब श्रुति और स्मृति का सम्बन्ध और स्वरूप प्रकारान्तर से बतलाते हैं-

**अविघाताद् विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।**
**भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः।।147।।**

अन्वयः- श्रुतौ विवृत्तानाम् अविघातात् भावतत्त्वं विज्ञाय लिङ्गेभ्यः स्मृतिः विहिता। अभिख्या तु स्वप्नवत् अस्ति।।

व्याख्या- (श्रुतौ) वेद में (विवृत्तानाम्) वर्णित पदार्थों का

(अविघातात्) विघात न होने से अर्थात् उनके अन्यथा या असत्य न होने से, प्रत्युत यथार्थ होने से (भावतत्त्वम्) वस्तुतत्त्व को (विज्ञाय) जानकर (लिङ्गेभ्यः) लिङ्गों से अर्थात् अनेक कारणों से और प्रयोजनों से (स्मृतिः) ऋषियों के द्वारा स्मृतियों को (विहिता) प्रकाशित किया गया है। और (अभिख्या तु) संज्ञा तो (स्वप्नवत्) स्वप्न के समान है। जैसे स्वप्न में देखी गई वस्तुओं के स्वरूप को जाग्रदवस्था में पुनः-पुनः स्मरण करके बतलाया जाता है, उसी प्रकार वेदोक्त सिद्धान्तों और वेदोक्त वस्तुओं को अनेक बार स्मरण करके लेखबद्ध किया जाता है। तदनुसार युक्तिप्रमाणसमन्वित प्रयोजनवती स्मृति का प्रणयन किया जाता है।।147।।

व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन का फल बतलाने के लिए यह कारिका है-

**कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।**
**चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।।148।।**

अन्वयः- कायवाग्बुद्धिविषयाः ये मलाः समवस्थिताः, तेषां चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैः विशुद्धयः भवन्तीति शेषः।।

व्याख्या- (कायवाग्बुद्धिविषयाः) शरीर, वाणी और बुद्धि से सम्बन्धित (ये) जो (मलाः) मल अर्थात् रोग और दोष (समवस्थिताः) हुआ करते हैं (तेषाम्) उनकी (चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैः) क्रमशः चिकित्सा शास्त्र, अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र के द्वारा, लक्षण शास्त्र अर्थात् उत्सर्गापवाद रूप व्याकरण शास्त्र के द्वारा और अध्यात्म शास्त्र अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र के द्वारा (विशुद्धयः) निवारण अर्थात् विशेष प्रकार से शुद्धि हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक दोषों एवं रोगों का निवारण जिस प्रकार आयुर्वेदादि चिकित्सा के ग्रन्थों और ओषधियों के द्वारा किया जाता है, और रागद्वेषादि बौद्धिक, मानसिक, वा आत्मिक दोषों का निवारण आध्यात्मिक शास्त्रों जैसे कि वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग, आदि षट् दर्शन शास्त्रों के अध्ययन, मनन और अनुष्ठान से किया जा सकता है, उसी प्रकार वाणी के दोषों अर्थात् अपशब्दों अथवा असाधु शब्दों के प्रयोग से होने वाले दोषों को व्याकरण शास्त्र के द्वारा प्रकृति-प्रत्ययादि के भेदज्ञान

से जाने गये शुद्ध साधु शब्दों के उच्चारण और प्रयोगरूप व्यवहार के द्वारा दूर किया जा सकता है।।148।।

अपभ्रंश किसको कहते हैं, यह बतलाते हैं-

**शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।**
**तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्।।149।।**

अन्वयः- गौः इति प्रयुयुक्षिते यः संस्कारहीनः शब्दः तम् विशिष्टार्थनिवेशिनम् अपभ्रंशम् इच्छन्ति।।

व्याख्या- (गौः इति प्रयुयुक्षिते) 'गौः' इस प्रकार के शुद्ध संस्कृत शब्द के प्रयोग की इच्छा होने पर जो (संस्कारहीनः शब्दः) प्रकृतिप्रत्ययादि के संस्कार से रहित जैसे गावी, गोणी, गाय, इत्यादि शब्द बोला जाता है, अथवा प्रयोग किया जाता है, (तम्) उस (विशिष्टार्थनिवेशिनम्) सास्ना (गलकम्बल) वाली विशेष प्रकार की वस्तु (गाय अर्थ) को बताने वाले शब्द को (अपभ्रंशमिच्छन्ति) अपभ्रंश कहा करते हैं। इस विषय में एक लाख श्लोक परिमाण के प्राचीन ग्रन्थ महर्षिव्याडिरचित 'संग्रह' में भी कहा गया है- 'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः'। यहाँ पर शब्दप्रकृति पद में बहुव्रीहि समास है, तदनुसार अपभ्रंश वे शब्द हैं, जो मूलतः संस्कृत शब्दों से उच्चारणादि दोष के कारण विकृत रूप में प्रयुक्त होने के कारण लोक में रूढि हो गए हों।।149।।

शब्दों में साधुत्व और असाधुत्व की व्यवस्था अर्थनिमित्त से अर्थात् अर्थ को ध्यान में रखकर की जाती है, न कि शब्दनिमित्त से। यह बतलाते हैं-

**अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।**
**निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं तु व्यवस्थितम्।।150।।**

अन्वयः- अस्वगोण्यादयः शब्दाः विषयान्तरे साधवः। साधुत्वम् तु निमित्तभेदात् सर्वत्र व्यवस्थितम्।।

व्याख्या- (अस्वगोण्यादयः शब्दाः) अस्व, गोणी, इत्यादि शब्द (विषयान्तरे) भिन्न-भिन्न अर्थ में (साधवः) साधु - शुद्ध हैं। (साधुत्वम् तु) शब्दों का साधुत्व और असाधुत्व (सर्वत्र) सब जगह (निमित्तभेदात्)

अर्थ की प्रकृति के निमित्तभेद से (व्यवस्थितम्) निश्चित किया जाता है।

आशय यह है कि संस्कृत भाषा में घोड़े के अर्थ में अश्वः और गाय के अर्थ में गौः शब्द साधु माने जाते हैं। उन्हीं शब्दों के अपभ्रंश रूप में साधारण ग्राम्य जन क्रमशः 'अस्व' और 'गोणी' इस प्रकार उन्हें (घोड़े और गाय के अर्थों में) प्रयुक्त करते हैं, और तत्तद् अर्थों में वे प्रसिद्ध अथवा साधु कहे जा सकते हैं। परन्तु संस्कृत भाषा की दृष्टि से यद्यपि घोड़ा अर्थ में अश्व शब्द साधु है, किन्तु अस्व शब्द भी धन से भिन्न (तत्पुरुष समास) और धनहीन (बहुव्रीहि समास) व्यक्ति के अर्थ में साधु कहा जा सकता है। क्योंकि 'स्वं धनम्, न स्वम् अस्वम, तत्पुरुषसमासः, और न विद्यते स्वं धनं यस्य स 'अस्वः' शब्द भी संस्कृत भाषा की दृष्टि से साधु ही है। इसी प्रकार वर्तमान लोकभाषा में 'गाय' अर्थ में {जैसे कि गढ़वाल प्रदेश में} बोला जाने वाला गोणी शब्द भी संस्कृत में नापतौल के पात्रविशेष के अर्थ में प्रयुक्त होने से साधु ही है। इस प्रकार अर्थप्रवृत्ति के कारण सभी शब्दों के साधुत्व, असाधुत्व का निश्चय किया जाता है। कोई शब्द किसी अर्थ में साधु है तो कोई किसी अर्थ में।।150।।

वस्तुतः वाचकता साधु शब्दों की ही होने से असाधु अपभ्रंश शब्दों की वाचकता साधु-शब्द-स्मरण द्वारा मानी जाती है, इसको बतलाते हैं-

**ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।**
**तादात्म्यमुपगम्यैव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः।।151।।**

अन्वयः- ते (अपभ्रंशाः) अनुमानेन साधुषु प्रत्ययोत्पत्ति हेतवः। तादात्म्यम् उपगम्य इव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः।।

व्याख्या- (ते) अपभ्रंश शब्द (अनुमानेन) अनु अर्थात् पीछे मान अनुभव से जो हुआ करता है, उस साधु शब्दार्थ-स्मरण के द्वारा (साधुषु) साधु शब्दों और उनके अर्थों के (प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः) ज्ञान की उत्पत्ति के कारण हुआ करते हैं। (तादात्म्यम् उपगम्य इव) तादात्म्य अर्थात् एकरूपता को प्राप्त करके मानो (शब्दार्थस्य) साधु शब्दों और उनके अर्थों के (प्रकाशकाः) बोधक हुआ करते हैं। आशय यह है कि अपभ्रंश शब्द

शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान में प्रयुक्त होने पर सीधे ही अर्थ के प्रत्यायक न होकर, पहले साधु शब्दों का, स्वरूप और उच्चारणादि की समानता को विचारते हुए स्मरण कराते हैं, तत्पश्चात् अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।। यहाँ पर शंका होती है कि ग्रन्थकार के समय में तो संस्कृतभाषा एक प्रकार से राजभाषा थी और उसका सर्वत्र प्रयोग होता था। तब अपभ्रंश शब्दों को जो ग्राम्य लोग बोला करते थे, उनके सम्बन्ध में उक्त नियम चरितार्थ होता था, ऐसा अनुमान होता है। परन्तु वर्तमान काल में संस्कृत आम बोलचाल की भाषा न होने पर सामान्यतः अपभ्रंश शब्द से संस्कृत शब्द के तत्सम शब्दरूप का स्मरण संस्कृतज्ञ विद्वानों को छोड़कर प्रायः कोई नहीं करता है। इसलिए ग्रन्थकार का उक्त नियम प्रायिक तो नहीं है? इसका उत्तर आगे देते हैं।।151।।

अपभ्रंश, विना साधु शब्द स्मरण के, सीधे ही अर्थ को क्यों नहीं कहते? इसका कारण बतलाते है-

**न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः।**
**न यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात् साक्षादवाचकाः।।152।।**

अन्वयः- यतः शिष्टैः स्मृतिशास्त्रेण साधव इव (अपभ्रंशाः) न अनुगम्यन्ते, तस्मात् साक्षात् अवाचकाः।।

व्याख्या- (यतः) क्योंकि (शिष्टैः) वैयाकरण आचार्यों के द्वारा (स्मृतिशास्त्रेण) व्याकरण शास्त्र के द्वारा (साधवः इव) अपभ्रंश शब्द साधु शब्दों के समान (न अनुगम्यन्ते) प्रामाणिक नहीं माने जाते हैं। (अतः) इस कारण (पर्यायाः न) वे अपभ्रंश साधु शब्दों के पर्याय अथवा समानार्थ के वाचक प्रामाणिक शब्द नहीं कहे जा सकते। (तस्मात्) इस कारण से वे (साक्षात् अवाचकाः) साक्षात् रूप से, सीधे ही अर्थों के वाचक नहीं हो सकते, किन्तु साधु शब्द के स्मरण द्वारा तद्वाच्य अर्थ के वाचक हुआ करते हैं।।152।।

असाधु शब्द किस प्रकार साधु शब्द के स्मरण द्वारा अर्थ के वाचक हुआ करते हैं, इसको सोदाहरण बतलाते हैं-

**अम्बाम्बेति यदा बालः शिक्षमाणोऽपभाषते।**
**अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः॥153॥**

अन्वयः- यदा अम्बा अम्बा इति शिक्ष्यमाणः बालः अव्यक्तम् अपभाषते तेन व्यक्ते निश्चयः भवति॥

व्याख्या- (यदा) जब (अम्बा अम्बा इति शिक्ष्यमाणः बालः) 'अम्बा, अम्बा' ऐसा बोलो, इस प्रकार बार-बार सिखाये जाने पर छोटा एक-दो वर्ष का बालक (अव्यक्तम् अपभाषते) 'अम्मा, अम्मा' इस प्रकार का अव्यक्त अस्पष्ट शब्द बोलता है और शुद्ध अम्बा शब्द नहीं बोल पाता, तब (तेन) उस अस्फुट अम्मा शब्द को सुनकर (तद्विदाम्) उस बच्चे की बोली को समझने वालों का (व्यक्ते) साधु 'अम्बा' इस प्रकार के अनुमान से बोध्य शब्द में (निश्चयः भवति) निश्चय हो जाता है। अर्थात् उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि बालक को 'अम्बा' बोलना सिखाया, परन्तु अशक्ति से वह अम्बा के स्थान में 'अम्मा' बोल रहा है, भले ही वह यथाश्रुति अम्बा ही बोलना चाहता था। इसी प्रकार जब कोई छोटा बच्चा 'दुधू' बोलता है तो उसको सुनकर वृद्धजन शुद्ध शब्द 'दुग्ध' का अनुमान कर लेते हैं, यह विचार कर कि अशक्तिवशात् बच्चा 'दुग्ध' के स्थान में दुधू बोल रहा है॥153॥

उक्त दृष्टान्त का दार्ष्टान्त प्रयुक्त करते हैं-

**एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपशब्दः प्रयुज्यते।**
**तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥154॥**

अन्वयः- एवम् साधौ प्रयोक्तव्ये यः अपशब्दः प्रयुज्यते तेन साधुव्यवहितः कश्चित् अर्थः अभिधीयते॥

व्याख्या- (एवम्) इस प्रकार (साधौ प्रयोक्तव्ये) साधु शब्द के प्रयोग करने के स्थान में अशक्त्यादि कारण से (यः अपशब्दः प्रयुज्यते) जो अपशब्द या अपभ्रंश शब्द बोला जाता है (तेन) उस अपशब्द के द्वारा सीधे ही अर्थ का बोध न होकर (साधुव्यवहितः) पहले उसके शुद्ध रूप का अनुमान किया जाता हे, तदनन्तर ही उस साधु शब्द से (कश्चित् अर्थः) संकेतित कोई अर्थ जनाया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि

अपभ्रंश शब्दों में शुद्ध शब्दों के समान अर्थप्रकाशन की शक्ति नहीं है, वे अर्थ का बोध शुद्ध शब्द के स्मरण द्वारा ही कराते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं।।154।।

इस विषय में अन्य मत दर्शाते हैं-

**पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।**
**प्रसिद्धिमागता ये ते तेषां साधुरवाचकः।।155।।**

अन्वयः- ये जो अपभ्रशाः विगुणेषु अभिधातृषु पारम्पर्यात् प्रसिद्धिम् आगताः तेषाम् तु साधुः अवाचकः।।

व्याख्या- (ये) जो (अपभ्रंशाः) अपभ्रंश शब्द- लोकभाषा में, जैसे 'घटः' के स्थान में 'घड़ा' या 'गगरी' शब्द का प्रयोग होना, 'गौः' शब्द के स्थान मे 'गावी' या 'गोणी' शब्द का प्रयोग होना इत्यादि हैं, वे (विगुणेषु) विद्या रूपी गुण से रहित अशिक्षित अविद्वान् (अभिधातृषु) लोगों में (पारम्पर्यात्) दीर्घकाल से, एक से सुनकर दूसरे तक और दूसरे से सुनकर तीसरे तक - इस क्रम से (प्रसिद्धिम्) प्रसिद्धि को (आगताः) प्राप्त हुए हैं, (तेषाम् तु) उनके विषय में तो पूर्वोक्त नियम लागू नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनके लिए (साधुः) शुद्ध संस्कृत शब्द के स्मरण द्वारा अर्थ (अवाचकः) की वाचकता नहीं हुआ करती। अर्थात् परम्परा से अर्थविशेष के वाचक बने वे अपभ्रंश शब्द प्रयोग होते ही प्रत्यक्षतः अपने अर्थ को अभिव्यक्त कर लिया करते हैं, और उन्हें तत्सम मूल संस्कृत शब्द के द्वारा अर्थ बतलाने की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार लोकप्रयुक्त भाषा शब्दों में भी अर्थ प्रकट करने के लिए संस्कृत शब्दों के समान ही शक्तिग्राहकता हुआ करती है, यह सिद्ध हुआ। परन्तु साधु संस्कृत शब्दों के प्रयोग में जो धर्मजनकता हुआ करती है, वह असाधु असंस्कृत शब्दों में नहीं होती, इतना भेद तो रहता ही है, यह भाव है।।155।।

यह दैवी वाक् (संस्कृत) कैसे अपभ्रष्ट हुई, इस पर प्रकाश डालते हैं-

**दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।**
**अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः।।156।।**

अन्वयः- इयम् दैवी वाक् अशक्तैः अभिधातृभिः व्यवकीर्णा। अस्मिन् वादे अनित्यदर्शिनम्म् तु बुद्धिविपर्ययः॥

व्याख्या- (इयम्) यह (दैवी वाक्) देववाणी संस्कृत (अथवा वेदवाणी, क्योंकि अनेकों प्रमाणों से ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय के अपौरुषेय, अमनुष्यकर्तृक, ईश्वरोक्त होने से वेदवाणी ही देववाणी है, उसमें से ऋषियों के द्वारा लोक-व्यवहार के लिए अपनाये गए बहुत से शब्द भी तत्प्रकृतित्वात् देववाक्, देववाणी, देवभाषा और संस्कृत नाम से कालान्तर में प्रसिद्ध हुए हैं) (अशक्तैः) शुद्ध रूप से शब्दोच्चारण करने में असमर्थ (अभिधातृभिः) लोगों के द्वारा (व्यवकीर्णा) अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग से मिश्रित हो गई, अथवा अपभ्रंश शब्द लोक में अधिक प्रचलित होते गये और संस्कृत शब्दों का प्रयोग ह्रसित होता गया। (अस्मिन् वादे) किन्तु इस विषय में (अनित्यदर्शिनाम्) शब्दों को अनित्य मानने वालों का तो (बुद्धिविपर्ययः) विपरीत ही विचार है।

यहाँ पर 'अनित्यदर्शिनाम्' पद के टीकाकारों ने दो अर्थ निकाले हैं और वे दोनों संगत प्रतीत होते हैं। इनमें एक मत शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिकों का है, वे साधु और असाधु (संस्कृत के या अपभ्रंश भाषाओं के) शब्दों को अनित्य मानते हैं, जो वैयाकरणों के शब्दनित्यत्व के सिद्धान्त (वाक्यपदीयानुसार अखण्डवाक्यस्फोट) के विपरीत होने से दोषावह या अप्रशस्त कहा जा सकता है। यद्यपि वह सिद्धान्त केवल ध्वनि की अनित्यता के वैयाकरणस्वीकार्य मत के विपरीत भी नहीं है। दूसरे मत के अनुसार कुछ लोगों की यह धारणा है कि मूलतः प्राकृत (अपभ्रंश) शब्द ही मनुष्य बोलता रहा है। कालान्तर में उनमें प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार दर्शाकर उनसे संस्कृत शब्दों का निर्माण कुछ प्रबुद्ध लोगों के द्वारा किया गया (प्रकृतौ भवं प्राकृतं-संस्कृतम्) इस प्रकार संस्कृत शब्दों को प्राकृत से उत्पन्न हुआ मानने वाले लोग भी शब्दानित्यत्ववादी हैं। अतः उनका भी यह मत शास्त्रपरम्परा तर्क और बुद्धि के विपरीत होने के कारण उचित नहीं है, अतः मान्य नहीं हो सकता। सुतराम्, वेदवाणी और संस्कृत भाषा को ही अन्य भाषाओं का मूल मानना यथार्थ है और सब सन्देहों का समाधान है, यही निश्चित समझना चाहिए॥156॥

अन्त में, कौन शब्द अर्थ का वाचक नहीं हुआ करता, इसको बतलाते हैं-

**उभयेषामविच्छेदेऽप्यन्यशब्दविवक्षया।**
**योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः।।157।।**

अन्वयः- उभयेषाम् अविच्छेदे अपि अन्यशब्दविवक्षया यः अन्यः शब्दः प्रयुज्यते सः अर्थस्य अभिधायकः न भवतीति शेषः।।

व्याख्या- (उभयेषाम्) साधु (संस्कृत) तथा असाधु (अपभ्रंश) शब्दों के (अविच्छेदे अपि) विच्छेद - विनाश न होने पर भी (अन्यशब्दविवक्षया) भिन्न शब्द को कहने की इच्छा से (यः) जो (अन्यः शब्दः) भिन्न शब्द (प्रयुज्यते) बोला जाता है, (सः) वह (अर्थस्य अभिधायकः) विवक्षित वाञ्छित अर्थ को बतलाने वाला (न) नहीं हुआ करता।

अभिप्राय यह है कि शब्दों के आविर्भाव के सम्बन्ध में उक्त दो मतों (संस्कृत शब्दों को नित्य मानने वालों का एक मत और अपभ्रंश शब्दों को नित्य मानने वालों का दूसरा मत) में गम्यागम्यादिव्यवस्था के अनुसार साधु और असाधु व्यवस्था भी सदा से निरन्तर चली आ रही है, यह मान्यता प्रचलित है। इन दोनों मतों को यथार्थ मानने या न मानने पर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस अर्थ को बतलाने के लिए जो शब्द प्रचलित या रूढ हैं, उसके स्थान में अन्य अर्थ के वाचक शब्द को प्रयोग करना किसी को भी मान्य या इष्ट नहीं हुआ करता, क्योंकि किसी वाच्यार्थ के वाचक शब्द से भिन्न शब्द वाच्य अर्थ को नहीं अभिव्यक्त कर सकता। जैसे कि घोड़े के अर्थ में प्रयुज्यमान प्रसिद्ध अश्व शब्द के स्थान में कथंचित् 'अस्व' शब्द का बोला जाना घोड़े अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकता है। और जैसे कि गाय के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले साधु 'गौः' शब्द के स्थान में 'गाय', 'गावी' या 'गोणी' आदि अपभ्रंश शब्द भी सीधे ही गोशब्दवाच्य अर्थ को नहीं प्रकाशित करते। कोशों में भी अपशब्दों का उल्लेख किसी साधु शब्द के द्वारा बोधित होने वाले अर्थ के लिए नहीं देखा जाता। परन्तु अपभ्रंश शब्दों की परम्परा को

भी सदा अविच्छिन्न मानने वाले तो घोड़े के अर्थ में 'अस्व' शब्द के प्रयोग को और गाय के अर्थ में 'गावी, गोणी' आदि शब्दों के प्रयोग को उचित मानकर ही चला करते हैं और उनके लिए अश्वः, गौः जैसे संस्कृत शब्द नवीन जैसे लगते हैं। इस प्रकार साधु शब्दों के समान अपभ्रंश शब्दों की भी वाचकता अथवा शक्तिग्रह समान रूप से है, यह जाना जाता है।

कारिका का दूसरा अभिप्राय कुछ व्याख्याकारों के अनुसार यह है कि जिस अर्थ को साधु गौः शब्द या असाधु गावी, गोणी आदि शब्द परम्परा से अभिव्यक्त करते हैं, उसी अर्थ को बतलाने के लिए उससे सर्वथा भिन्न अर्थ का वाचक 'घटः' या 'घड़ा' अथवा 'पटः' या 'कपड़ा' जैसे कोई भी शब्द कदापि प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इस मान्यता में पूर्वोक्त दोनों मतवादियों का कोई विरोध नहीं है।।157।।

---

**नयनारिखनेत्रेऽब्दे वैक्रमे शनिवासरे।**
**मधुमासे सिते पक्षे सप्तम्यां पूर्तिमागता।।1।।**
**कृतादिमस्य काण्डस्य वाक्यपदीयपुस्तके।**
**राष्ट्रभाषान्विता व्याख्या जयदत्तेन शास्त्रिणा।।2।।**
**कृतिमेतां पितुः कुर्वे कृष्णानन्दस्य सादरम्।**
**मातुश्च तुलसीदेव्याः पुण्यस्मृतिसमर्पणम्।।3।।**
**सारल्यं प्राप्नुयुश्छात्र गूढार्थानां विबोधने।**
**कारिकाणां हरेस्तेन प्रीयतां परमेश्वरः।।4।।**

इति शम्।

---

स्वस्त्ययनम्, तल्ला थपलिया,
अल्मोड़ा-263601, उत्तराखण्डम्, भारतम्।